जैन भारती

वर्ष 49 • अंक 8 • अगस्त, 2001

हार्दिक शुभकामनाओं सहित :

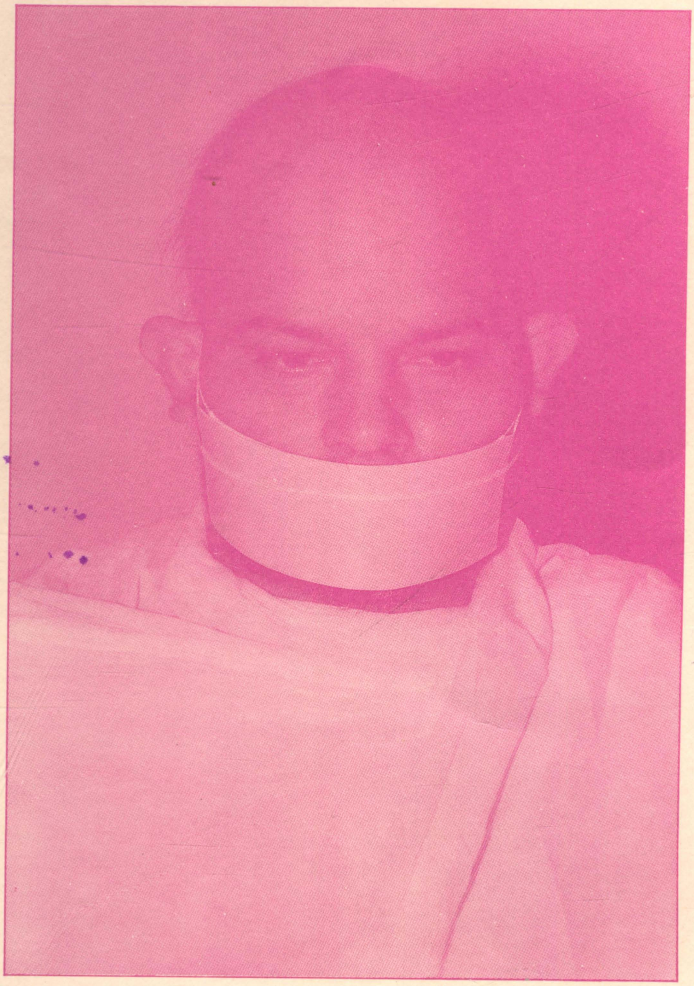

हेमराज शामसुखा

विनीत टेक्सफैब लिमिटेड

101, मामुलपेट, बंगलौर 560053

फोन : 2872355, 2871754

शुभू पटवा
मानद संपादक

बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

अगस्त, 2001 वर्ष 49 अंक 8 रु. 15.00

विमर्श

9
वी.एम. तारकुण्डे
स्वतंत्रता : मौलिक मूल्यमर्यादा

14
सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन्
अहिंसक समाज के सूत्र

18
समणी अमितप्रज्ञा
एक्का मणुस्सजाई

अनुभूति

25
साध्वी मुदितयशा
दो कालजयी नक्षत्र

29
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
संवत्सरी : अहेतुक उलझन

33
आचार्यश्री तुलसी
निरापद है आध्यात्मिक भावना

36
डॉ. बच्छराज दूगड़
एक उद्दाम अनुसंधित्सु

38
कहानी
जैनेन्द्र कुमार
अपना-पराया

42
कविता
जगदीश गुप्त की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
क्षमिता : सभ्य होने की प्रतीति

शीलन

45
डॉ. भोगीलाल जे. सांडेसरा
तीर्थ और तीर्थंकर

49
रामलाल वर्मा
वसुधा है अपना परिवार

50
बालकथा
कुणाल श्रीवास्तव
पांचवां चोर

55
जैन भारती पाठक पहेली

आवरण
दीपचन्द
एवं
खेराजराम

सदस्यता शुल्क
वार्षिक 125/- रुपये
त्रैवार्षिक 350/- रुपये
दसवर्षीय 1000/- रुपये

प्रधान कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कोलकाता 700001

प्रकाशकीय कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

'मनुष्य की साधना का लक्ष्य है निरंतर अपने 'सर्वश्रेष्ठ' को प्रकाशित करना। जो अपने-आप जमा होता रहा है, या सहस्रों वर्ष पहले हो चुका है, उसको व्यक्त करना मानव-साधना नहीं है। अपने सर्वश्रेष्ठ को नियत प्रकाशित करने की शक्ति उसे धर्म से ही मिलती है। इसलिए मनुष्य अपने धर्म को बड़ी तपस्या के बाद अपनी श्रेष्ठता के चरम स्थान पर स्थापित करता है। लेकिन जब वह विपत्तिवश या मोहवश अपने धर्म को झुका देता है, तब धर्म की तरह विनाशकारी चीज दूसरी कोई नहीं हो सकती। उच्च स्थान से जो चीज हमें ऊपर उठाती है वही यदि निम्न स्थान पर हो तो हमें नीचे गिराती है। इसलिए यदि कोई देश धर्म को नीति के बदले रीति पर आधारित करे, बुद्धि के बदले संस्कार पर प्रतिष्ठित करे; यदि धर्म को अंतःकरण में आश्रय देने के बदले उसे बाह्य अनुष्ठानों में आबद्ध करे; धर्म के अनुसार परिवेश को गढ़ने के बदले परिवेश के ही हाथों में धर्म को समर्पित कर दे, धर्म की दुहाई देकर मानव-मानव में पार्थक्य निर्माण करे; एक वर्ग के अहंकार को दूसरे वर्ग पर लादे; मनुष्य की सर्वोच्च आशा और अधिकार को संकुचित तथा खंडित करे—तो ऐसे देश को हीनता या अपमान से बचाना किसी सम्मेलन या संस्था के लिए संभव नहीं; और न ऐसे देश की रक्षा वाणिज्य-व्यवसाय की उन्नति से या राजनीतिक इंद्रजाल से हो सकती है। जो अपने सर्वश्रेष्ठ को सर्वोच्च सम्मान नहीं देता, उसे कभी उच्चासन नहीं मिल सकता। इसमें कोई संदेह नहीं कि धर्म के विकार से ग्रीस और रोम का पतन हुआ, और हमारी दुर्गति का कारण भी हमारे धर्म में ही मिलेगा, और कहीं नहीं। इसमें भी कोई संदेह नहीं कि यदि हमें अपना उद्धार करना है तो बाहर की ओर ताकने से या किसी बाह्य सुविधा का सहारा लेने से कोई लाभ नहीं। रक्षा के उपाय को अपने बाहर ढूंढ़ना दुर्बल आत्मा की मूढ़ता है। ध्रुव सत्य तो यही है : धर्मो रक्षति रक्षितः।'

—रवीन्द्रनाथ टैगोर

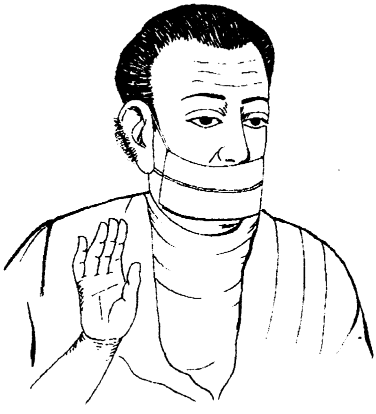

एकतंत्रीय अनुशासन में निर्णायक एक होता है और बहुतंत्र में कुछेक। सब-के-सब निर्णायक कहीं भी नहीं होते। एकतंत्र में एक के सामने निन्यानबे की उपेक्षा हो सकती है और बहुतंत्र में 51 के सामने 49 की। सर्व-सम्मति के निर्णय की स्थिति श्रद्धा ही है। विचार, तर्क या बुद्धि के प्रवाह से वह स्थिति नहीं बनती। श्रद्धा का अर्थ है—आग्रह-हीनता, नम्रता और सत्यशोध की सतत साधना। सत्य का शोधक कभी भी आग्रही नहीं होता। वह अपने विश्वास को दृढ़ता के साथ निभाता है, फिर भी नम्रता को नहीं छोड़ता।

व्यक्ति-व्यक्ति की रुचि विचित्र होती है। संस्कार भी अपने निराले होते हैं। अधिकांश व्यक्ति अपनी रुचि और संस्कारों को जितना महत्त्व देते हैं, उतना वस्तुस्थिति को नहीं देते। परंतु साधना का मार्ग संस्कारों से ऊपर उठकर चलने का है। श्रद्धा की यही विशेषता है कि उसमें सारी शंकाएं लीन हो जाती हैं। नदियां कहीं सीधी चलती हैं और कहीं टेढ़ी। आखिर वे समुद्र के गर्भ में लीन हो जाती हैं। विचारों के प्रवाह कहीं ऋजु होते हैं और कहीं वक्र। आखिर वे आचार्य के निर्णय में लीन हो जाते हैं।

'भिक्षु विचार दर्शन' से

अनुकूल स्थिति और इष्ट-वस्तु का योग होने पर मनुष्य को सुख की अनुभूति होती है। प्रतिकूल परिस्थिति और अनिष्ट का योग होने पर उसे दुःख का अनुभव होता है। साधारण मनुष्य इसी सुख-दुःख के चक्र में परिभ्रमित रहता है। सुख के आगे आनंद नाम की कोई वस्तु है, यह प्रश्न भी उसके मन में नहीं उभरता। प्रतिकूल परिस्थिति और अनिष्ट के योग में भी मनुष्य के आनंद का प्रवाह अविच्छिन्न रह सकता है, यह कल्पना सामान्यतः नहीं हो सकती। किंतु आनंद उसी स्थिति का नाम है जो बाह्य के संयोग या वियोग के आधार पर घटित नहीं होती।

हर मनुष्य के अंतस् की गहराई में आनंद की असीम धारा प्रवाहित होती है, किंतु प्राणिक और मानसिक आवरणों से वह आच्छन्न है। मोह (कषाय) की राख से उसके अस्तित्व की लौ ढकी हुई है, इसलिए उसका होना, नहीं होने जैसा है।

—आचार्यश्री तुलसी

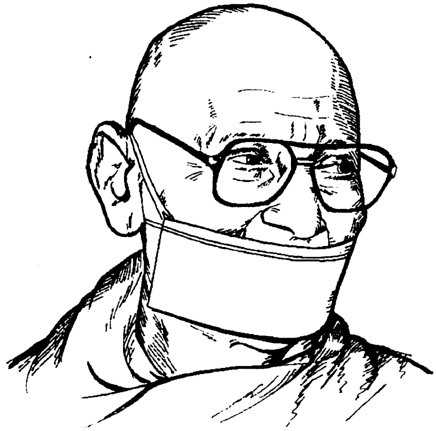

आध्यात्मिक शिक्षा का प्रश्न बहुत उलझा हुआ है। नैतिक शिक्षा की चर्चा शिक्षाविदों ने बार-बार की है। वह आध्यात्मिक शिक्षा का ही एक अंग है, यह चर्चा भी एक उलझन बनकर रह गई है। विभिन्न संप्रदायों की उपस्थिति में किस संप्रदाय द्वारा मान्य आध्यात्मिकता और नैतिकता की शिक्षा विद्यार्थी को दी जाए, यह उलझन का एक वलय बना हुआ है, जिसमें घुसने का कोई दरवाजा नहीं है। आध्यात्मिक और नैतिक शिक्षा कैसे दी जाए—यह दूसरी समस्या है। बहुत-सारे शिक्षाविदों ने इसका एक समाधान सूत्र दिया है। वह यह है कि विद्यार्थी को महापुरुषों की जीवनियां पढ़ाई जाएं। कहानियों के माध्यम से नैतिक नियमों के प्रति आकर्षण पैदा किया जाए, नैतिकता के सिद्धांत और नियम पढ़ाए जाएं। इस समाधान सूत्र को गलत तो नहीं कहा जा सकता, किंतु सफल सूत्र भी नहीं कहा जा सकता।

आध्यात्मिकता और नैतिकता मनुष्य की आंतरिक आस्था का प्रश्न है। इस आस्था को जगाने के लिए आंतरिक परिवर्तन जरूरी है। राष्ट्र-प्रेम, मानवता का प्रेम, संतुलित समाज-व्यवस्था और पारिपार्श्विक वातावरण—सब उसमें सहयोगी बनते हैं। किंतु आध्यात्मिक और नैतिक विकास का मूल कारण है व्यक्ति का आंतरिक परिवर्तन। जब तक उसके प्रति हमारा ध्यान आकर्षित नहीं होगा, हम सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और नैतिक चेतना को जगाने में सफल नहीं हो सकेंगे।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

क्षमिता : सभ्य होने की प्रतीति

क्या हम सभ्य हैं?

कविवर अज्ञेय की कविता पंक्तियों का स्मरण हो रहा है। अपनी एक कविता में कविवर कहते हैं—सांप! तुम सभ्य तो हुए नहीं/नगर में बसना/भी तुम्हें नहीं आया/एक बात पूछूं—(उत्तर दोगे?)/तब कैसे सीखा डंसना/विष कहां पाया!—आज की हमारी सभ्यता क्या सचमुच विषैली है, क्या वह हर किसी को डस रही है? भौतिक समृद्धि के जो 'ताजमहल' आधुनिक विकास ने गढ़े हैं—उनसे निसृत सौंदर्य ने मानवीयता को जितना निस्तेज किया है—हम सभ्य कहलाने का खोखला दावा भले ही करते रहें, दरअसल हम सभ्य कहां हो पाए हैं?

बीती सदी सर्वाधिक विकासमान सदी के रूप में स्थापित हुई मानी जा रही है। इसी सदी में अणुशक्ति का आविष्कार हुआ, पर उसका उपयोग रचनात्मक विकास और विधायी कार्यों के बरअक्स विध्वंसक कार्यों के लिए कितना हो रहा है—यह किसी को बताने की जरूरत नहीं, हम सभी जानते हैं। हिरोशिमा और नागासाकी पर हुई बमबारी से आहत अणुशक्ति के आविष्कर्ता ओपन हाइमर ने स्वयं ही तो कहा था—'आज मेरे हाथ खून से सने हैं।' आज की रक्तरंजित सभ्यता का इससे बड़ा प्रमाण दूसरा क्या हो सकता है? इसके जनक ओपन हाइमर जिस तरह व्यथित हुए, उसी तरह उनके एक सहकर्मी लियो जीलार्ड भी आहत थे। अपने अनुसंधान से उपजी वीभत्सता से जो अपराध-बोध उन्हें तब हुआ, उसने उनकी जीवन-दिशा ही बदल दी। जापान की घटना के बाद वैज्ञानिक गतिविधियों से विलग हो, लियो जीलार्ड ने शेष जीवन विश्व-कल्याण में खपाया।

पर, जो हो गुजरा—उसकी भरपाई क्या हो सकी? आज भी क्या इस अणुशक्ति से बम ही नहीं बन रहे? सभी चाहते हैं कि अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग न करना पड़े, लेकिन इस चाहत के पीछे सबकी छिपी मंशा यही रहती है कि हम भी अणु-अस्त्र से सुसज्जित हों। तब भी हम सभ्य होने का दावा करें, तो क्या सभ्य कहलाने का यह खोखला दावा न माना जाए?

इसी बीती सदी में विकास का दूसरा ढिंढोरा पीटा जा रहा है—सूचना प्रौद्योगिकी का। हम 'कूप-मंडूक' नहीं रह सकते, दुनिया एक 'विश्व-ग्राम' के रूप में तब्दील होनी चाहिए। हमारे सभ्य होने का कोई लक्षण यदि सरलता से प्रकट हो सकता

है तो सूचना प्रौद्योगिकी के जरिए ही हो सकता है। भारत जैसे गरीब और पिछड़े देश के लिए सूचना प्रौद्योगिकी जैसी अनुत्पादक तकनीक क्यों अनिवार्य होनी चाहिए और क्यों हमारी प्रतिभाओं को इस ओर धकेला जाना चाहिए? क्यों ऐसे प्रलोभन दिखाने चाहिए कि हम आसानी से उनमें फंस जाएं? सूचना प्रौद्योगिकी से बना 'विश्व-ग्राम' न हमें समृद्ध बना रहा है और न हम सांस्कृतिक दृष्टि से ही परिपुष्ट हो रहे हैं। अप-संस्कृति का व्यामोह हमें ग्रस रहा है और किशोर वय, अपरिपक्व युवा मानस इसकी चपेट में आ रहा है। 'विश्व-ग्राम' का छिछलापन 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की गहराइयों पर भारी पड़ रहा है। हम सभ्य कितने हैं और सभ्य होने का 'स्वांग' हममें कितना है—यह नीर-क्षीर करने की अब जरूरत आ पड़ी है।

हम अपनी संस्कृति को, अपनी सभ्यता को पहचानें। उसके प्रति हममें सम्मान का बोध जगे और हमारा आचरण उस ओर अग्रसर हो। हम अपने और विश्व के अनुभवों से सबक लें। राजनीतिक स्वाधीनता मिले आधी से अधिक सदी गुजर चुकी है। दुनिया के साथ कदम-से-कदम मिलाकर चलने का हमारे कर्णधारों का आह्वान हमें कहां ले जाकर खड़ा कर चुका—यह हिसाब हमें अब लगाना ही चाहिए। हमें समझना चाहिए कि 'राष्ट्र-राज्य' की अपनी निहित अनिवार्यताएं हो सकती हैं, पर लोकतंत्र में समाज अक्षरशः उनका अनुगामी हो—यह अनिवार्य विवशता नहीं होनी चाहिए।

तब हमें विचार करना चाहिए कि सामाजिक स्तर पर सभ्य होने के लक्षण क्या हैं? हमारी संस्कृति, हमारी परंपरा, हमारा दर्शन, हमारे शास्त्र इस दिशा में क्या कहते हैं? जो कुछ इनमें व्यक्त है—क्या समाज उस ओर अग्रसर हो सकता है?

हमारे यहां कहा गया कि गुण की शोभा ज्ञान और ज्ञान की शोभा क्षमा है। हमारे यहां कहा गया कि क्षमा परमशक्ति है—क्षमा वीरस्य भूषणम्। आत्म-सम्मान और स्वाभिमान की वृत्ति तत्त्वतः क्षमिता में ही निहित है। स्वस्थ समाज वही है जो क्षमावंत है। क्षमा किसी को निम्नकोटि पर खड़ा नहीं करती और न कोई उससे उच्चता प्राप्त कर सकता है, क्षमा पारस्परिक समादर का बोध है। यह सर्वमान्य पक्ष है कि क्षमाशीलता तभी विकासमान होती है जब समझदारी का विकास होता है। जाहिर है कि सभ्य होने की प्रतीति इसमें नहीं है कि हम अणु-अस्त्र से लैस हैं, इसमें है कि क्षमिता के भाव हममें प्रखर हैं।

क्या हम सभ्य कहलाना चाहते हैं? कौन नहीं चाहेगा। अहिंसा के अग्रदूत श्रमण महावीर ने कहा—क्षमा से मन में शांति और सौजन्यवृत्ति का प्रादुर्भाव होता है। वे कहते हैं—स्नेह और सौजन्यता ही व्यक्ति को भय-रहित बनाती है। आज क्या स्थिति है, क्या हम भय-रहित हैं? जो जितना शक्ति-संपन्न है, वह उतना ही भयभीत भी है। क्योंकि सभी एक-सा खतरा महसूस कर रहे हैं। इस खतरे में हारने वाला जलील होने के लिए नहीं बचेगा और न जीतने वाला ही हारने वाले पर इतराने को बचेगा। अणु-अस्त्र की ताकत जीतने वाले को और हारने वाले को—दोनों ही को हरने वाली ताकत है। फिर कौन शक्ति-संपन्न है और कौन असहाय? यह सभ्यता अपने ही बुने जाल में फंसी प्रतीत हो रही है।

इससे मुक्त होने का उपाय है क्षमिता। हम क्षमावंत बनें। प्रतिक्रमण सूत्र और ऋग्वेद में जो कहा है—उसका सार इन शब्दों में निहित है—मेरी सबसे मित्रता है, किसी से वैर-शत्रुता नहीं। मैंने सब प्राणियों को क्षमा किया है, मुझे भी सब क्षमादान दें। मेरी वाणी का उपयोग जगत के मंगल के लिए हो, सारे द्वेष भस्मीभूत हो जाएं—हमारे व्यवहार का यही समुचित सहयोग हो। ऐसा करना ही सभ्य होना है। इसीलिए सभ्य होने की, ज्ञानवंत होने की प्रतीति क्षमावंत होने में मानी गई है। क्षमिता ही सभ्य होने की प्रतीति है।

भगवान महावीर की छब्बीस सौवीं जन्म शताब्दी वर्ष के इस क्षमापन अवसर पर यदि हम सभ्य होने का परिचय देने का साहस कर सकें तो विश्व के लिए यह एक विरल घटना होगी। महाभारत में 'क्षमा' को परमशक्ति का पद प्राप्त है। समाज इस परमशक्ति पर भरोसा करे और कोई मिसाल प्रस्तुत करे। प्रतीक के रूप में एक मिसाल यह प्रस्तुत की जा सकती है कि समाज में जिस किसी के पास हथियार हैं—वे सब समर्पित (सरेंडर) कर दिए जाएं। हथियारों के लाइसेंस स्वेच्छा से निरस्त होने का सामाजिक कदम प्रवहमान हो। अस्त्र हिंसा की निशानी हैं। अस्त्र होंगे तो विनाश, स्व-विनाश की आशंका बनी ही रहेगी। नेपाल में घटित हाल की घटना इसका प्रमाण है। राष्ट्र-राज्य भले रखे अपने पास—अणु-अस्त्र, पर समाज हिंसा से मुक्त होगा, हिंसा के हथियार समाज नहीं रखेगा। भयमुक्त वही है जो अहिंसक है, क्षमावंत है। क्षमा परमशक्ति है और इस शक्ति का अस्त्र है अहिंसा, इसका व्रत है सत्य।

सत्य और अहिंसा के व्रत और अस्त्र से ही पारस्परिक समादर स्थापित हो सकता है। क्षमा इसकी आधार भूमि हो—इस पर्युषणा-पर्व का यही अभिप्रेत हो। बस।

— शुभू पटवा

विमर्श

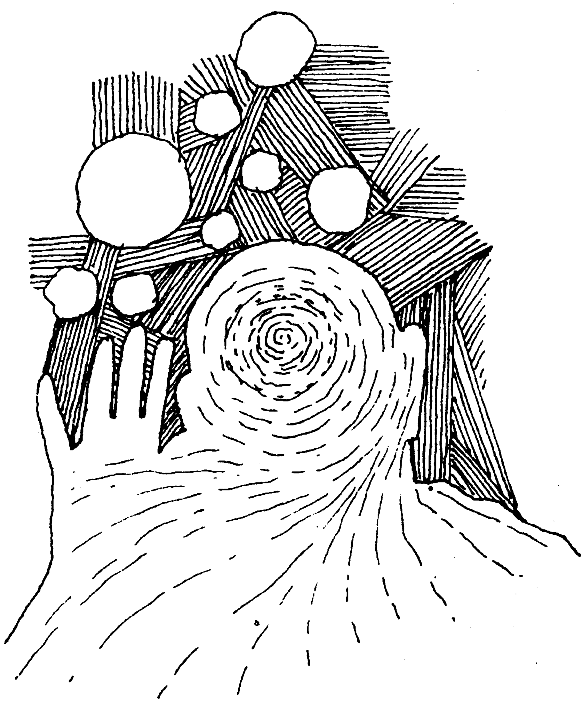

'हम सचमुच एक स्वर्णयुग की ओर बढ़ सकते हैं, यदि हम उस स्वर्णयुग को तत्काल पाने का प्रयत्न करें। जिस सीमा तक हम उसे तत्काल पा लेते हैं और साक्षात्कार के सिद्धांत को व्यवहार में लाते हैं, क्षण के प्रवाह रूप और क्षण के स्थाई रूप के बीच की जोड़ने वाली कड़ी भी बनाई जा सकती है। यदि उन्हें दो भिन्न श्रेणियों में रखा जाता है, एक को प्रवृत्ति के क्षेत्र में और दूसरे को विषय के क्षेत्र में तो हमारे ऊपर महान दुर्भाग्य और विनाश टूट पड़ सकता है। वे आवश्यक रूप में एक-दूसरे से जुड़ें और दोनों को जोड़ने वाली कड़ी साक्षात्कार का सिद्धांत है। वर्ग-संघर्ष में साक्षात्कार, उत्पादन में साक्षात्कार, विश्व संसद में साक्षात्कार, समीपता में साक्षात्कार। साक्षात्कार के इस सिद्धांत के अनुसार हर काम का औचित्य स्वयं उसी में होता है और यहां और कभी जो काम किया जाता है, उसका औचित्य सिद्ध करने के लिए बाद के किसी काम का उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। जबकि हर काम का औचित्य उसी में होना चाहिए, इतिहास की चालक शक्तियों को समझने की और उनमें जो सहायक हों, उन्हें मनुष्य के भाग्य के हित में बढ़ाने की भी उतनी ही आवश्यकता है। करुणा और क्रांति को आपस में एक-दूसरे से जुड़ना है और किसी एक या दूसरे के प्रति कोई भक्ति व पक्षपात आध्यात्मिकता और साथ ही भौतिकता पर वज्रपात करेगा।

—डॉ. राममनोहर लोहिया

वी.एम. तारकुण्डे

स्वतंत्रता : मौलिक मूल्यमर्यादा

□□

स्वतंत्रता का अर्थ धीरे-धीरे सभी प्रतिबंधों का नष्ट होना है जो उसकी व्यक्तिगत क्षमता के विचार में विवेकशील मानव के जीवन प्राप्त करने के मार्ग में बाधक हैं। मानव स्वेच्छा से ऐसे प्रतिबंधों को स्वीकार कर लेता है जो सार्वजनिक हित में लगाए जाते हैं। स्वतंत्रता केवल विवेकशील मानव ही भोग सकता है। फिर भी क्योंकि स्वतंत्रता आधारभूत मानवमूल्य है अतः किसी व्यक्ति की स्वतंत्रता पर तब तक प्रतिबंध नहीं लगाना चाहिए जब तक वे दूसरे मानव-व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए आवश्यक न हों। समानता का अर्थ सभी व्यक्तियों के लिए स्वतंत्रता की समानता है। यही कारण है कि व्यक्ति की स्वतंत्रता पर केवल तर्कसंगत और विवेकजन्य ऐसे प्रतिबंध लगाए जा सकते हैं जिनसे सभी व्यक्तियों की समानता सुरक्षित की जा सके।

जो लोग यह मानते हैं कि विज्ञान और मानवमूल्य दो भिन्न श्रेणियों में आते हैं और उनका कोई पारस्परिक प्रभाव नहीं पड़ता है, उनका कहना है कि वैज्ञानिक फैसले किसी वस्तु के अस्तित्व में होने अथवा न होने के आधार पर किए जाते हैं और मानवमूल्यों के फैसले अच्छाई और बुराई और 'क्या होना चाहिए और क्या नहीं होना चाहिए' के आधार पर किए जाते हैं। विज्ञान के द्वारा आप उससे उत्पन्न तथ्य जान सकते हैं लेकिन मानवमूल्य के संबंध में ऐसा अनुमान नहीं निकाला जा सकता है। किसी के अस्तित्व में होने अथवा न होने से उसके अच्छा अथवा बुरा होने का फैसला नहीं किया जा सकता। अतः विज्ञान मानव मूल्यों के संबंध में कुछ भी नहीं कर सकता।

इस द्वैत विचारतथ्य और मानवमूल्यों के द्वैत के आधार पर कहा जाता है कि विज्ञान को मानवमूल्यों से मुक्त रहना चाहिए। सभी विज्ञानों के संबंध में इस दृष्टिकोण को अपनाने की बात कही जाती है जिनमें समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र जैसे सामाजिक विज्ञानों को सम्मिलित माना जाता है। यदि इस बात को स्वीकार कर लिया जाए तो उससे अजीब निष्कर्ष निकलेंगे। इसका यह अर्थ होगा कि चिकित्सा विज्ञान इस निष्कर्ष पर तो पहुंचे कि संतुलित आहार से स्वास्थ्य अच्छा रहता है लेकिन वह यह न कहे कि मनुष्य को संतुलित आहार लेना चाहिए। चिकित्सा विज्ञान मानव-स्वास्थ्य का अध्ययन तथ्यात्मक आधार पर करे लेकिन उसमें मानवमूल्य का ध्यान न रखे। इसी प्रकार राजनीति विज्ञान लोकतंत्र की परिभाषा करे और उसकी सफलता के लिए आवश्यक बातों का विश्लेषण करे लेकिन वह अन्य राजनीतिक संगठनों की तुलना में लोकतंत्र की अच्छाइयां न बताए।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण को मानवमूल्यों से मुक्त रखने की बात एक भ्रांति है। मानवमूल्य मानव के लिए कल्याणकारी और लाभकारक होता है। यह प्रश्न उठता है कि मानवमूल्य किसके कल्याण और किसके हित में है? मानवमूल्य का संबंध जीवित प्राणी से है और उसकी सार्थकता मानव-व्यक्ति के लिए है। आप यह कह सकते हैं कि कुछ बातें पेड़-पौधों और पशुओं के लिए लाभकारी हो सकती हैं लेकिन पहाड़ और नदियों के लिए नहीं। शिकार करने वाले पशुओं के लिए यह लाभजनक होगा कि संसार में ऐसे पशु हों जिनका वह शिकार कर सके और उन्हें खा सके लेकिन उन निरीह पशुओं के लिए यह लाभकारी नहीं होगा कि वे शिकार करने वाले पशुओं के पास रहें।

जब हम मानवमूल्यों और मर्यादाओं की बात करते हैं तो उसका संबंध मानव से होता है और उनके कल्याण और हित को ध्यान में रखकर उनकी बात की जाती है। अच्छी जलवायु वह है जिसमें रोग उत्पन्न करने वाले कीटाणु नहीं हैं। अतः ऐसी जलवायु अच्छी होगी जो मानव के लिए कल्याणकारी हो और जिसमें उसकी वृद्धि हो सकती है। मानवमूल्य वही है जो मानवजीवन के लिए मूल्यवान हो। पशुजीवन के लिए भी जो मूल्यवान है वह उपयोगिता और प्रेम की दृष्टि से मानवजीवन के लिए कल्याणकारी हो सकता है।

अतः इस बात को समझ लिया जाए कि जब हम मूल्यों की बात करते हैं तो उसका तात्पर्य मानव के लिए कल्याणकारी मूल्यों से है। इस बात में मतभेद हो सकता है कि मानव-प्राणी के लिए क्या कल्याणकारी है? मानव शरीर की बनावट, शरीरविज्ञान, स्नायुविज्ञान, मनोविज्ञान और सामाजिक विज्ञानों की सहायता से हम यह जान सकते हैं कि मानव प्राणी के लिए कल्याणकारी मूल्य कौन से हैं?

विभिन्न प्रकार के मानव मूल्य हैं। कुछ का संबंध सफाई और तापमान से होता है जो मानव-प्राणी के जीवन के लिए आवश्यक हैं और दूसरे मूल्यों का संबंध स्वविवेक, साहस और कार्य करने की सामर्थ्य से होता है जो व्यक्ति के जीवन की सफलता से संबंधित होते हैं। तीसरी श्रेणी के मूल्यों में दया, ईमानदारी, सत्य आदि गुण हैं जो मनुष्य के सामाजिक जीवन में सहयोग की प्रवृत्ति के लिए आवश्यक हैं। अंतिम श्रेणी के गुणों को नैतिक मूल्य कहा जाता है।

विभिन्न प्रकार के मूल्यों का महत्त्व इसलिए है कि वे मानवजीवन के अस्तित्व के लिए मूल्यवान हैं। सफाई और तापमान, स्वविवेक और साहस, दया और ईमानदारी आदि सभी मानवजीवन के अस्तित्व के लिए कल्याणकारी हैं। कोई भी मूल्य अपने-आपमें अच्छा नहीं है जब तक उसका संबंध मानव के कल्याण से न हो। जब हम यह कहते हैं कि मूल्य तभी सार्थक हैं जब वे मानवकल्याण के मूल्य हों तो उसका अर्थ यही होगा कि मानव-व्यक्ति ही मौलिक मूल्य है।

अस्तित्व की आकांक्षा ही समस्त जीवों की मौलिक आकांक्षा होती है। जीवजगत के हिस्से के रूप में मानव-व्यक्ति की भी जीवित रहने की आकांक्षा होती है। मानव-जीवन और अस्तित्व की आकांक्षा को जीवगत तथ्यों के वैज्ञानिक ढंग से सिद्ध किया जा सकता है। इस प्रकार विज्ञान और मूल्यों की द्वैत भावना समाप्त हो जाती है जब यह स्पष्ट हो जाता है कि मानवजीवन के अस्तित्व की आकांक्षा तथ्य और मानवमूल्य दोनों ही हैं।

मानव-प्राणी की यह आकांक्षा है कि वह मानव के रूप में जीवित रहे। मानवजीवन से हीन जीवन में यदि उसे निरंतर रखा जाएगा तो वह मर जाएगा। मौलिक मानववाद के अनुसार मानव-प्राणियों की आकांक्षा स्वतंत्रता की आकांक्षा का सार है। अतः स्वतंत्रता मौलिक मानवमूल्य है जो सभी मानवीय मूल्यों का आधार है।

स्वतंत्रता की कल्पना

स्वतंत्रता का अर्थ है बंधनहीनता। स्वतंत्रता का अर्थ है कि सभी प्रकार के प्रतिबंध धीरे-धीरे समाप्त हो जाएं और मानव की क्षमताओं को प्रतिबंधों से मुक्त कर उसे विकास का अवसर मिले।

राजनीतिक क्षेत्र में और राज्य के क्षेत्र में स्वतंत्रता का अर्थ कुछ मौलिक अधिकारों का उपभोग है, जैसे सूचना प्राप्त करने का अधिकार और अपना मत व्यक्त करने का अधिकार, संगठन बनाने और मजदूर संघ (ट्रेड यूनियन) और राजनीतिक दल बनाने का अधिकार, सभा करने और जुलूस निकालने का अधिकार। इसका यह भी अर्थ है कि उसके विरुद्ध मनमाने ढंग से शक्ति का प्रयोग न किया जाए जो नियमानुसार कानून के परिपालन का सार तत्त्व है। इसके अतिरिक्त एक और मौलिक अधिकार है और वह है व्यक्ति को स्वतंत्र रूप से अपना विचार रखने का अधिकार, किसी भी धर्म को मानने अथवा न मानने और अपने विचारों का प्रचार करने का अधिकार।

सामाजिक क्षेत्र में स्वतंत्रता का अर्थ है तर्कहीन परंपराओं और रूढ़ियों का अभाव। उसका संबंध विवाह, तलाक, पिता और अभिभावक के संबंध और पति-पत्नी के संबंधों से भी है। युवकों और पुरुषों के संबंध, विभिन्न जातियों और समुदायों के संबंध भी इस क्षेत्र में आते हैं। कुछ लोगों में सामाजिक प्रतिबंधों से व्यक्ति-स्वतंत्रता में काफी सीमा तक बाधा पड़ती है जितनी राजनीतिक प्रतिबंधों से भी नहीं पड़ती। सामान्य रूप से राजनीतिक और सामाजिक प्रतिबंध साथ-साथ रहते हैं। अधिनायकवादी समाज में अधिनायकवादी राज्यसत्ता स्थापित करने की प्रवृत्ति होती है।

स्वतंत्रता की भावना को केवल राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में सीमित नहीं रखा जा सकता। व्यक्ति की समानता के लिए यह आवश्यक है कि उसे आर्थिक क्षेत्र में भी स्वतंत्रता हो। उसे अभाव और आर्थिक असुरक्षा से भी मुक्त रहने की आवश्यकता है। वह भुखमरी के भय से भी मुक्ति चाहता है। स्वतंत्रता की यह परिभाषा ऊपर की जा चुकी है कि स्वतंत्रता का अर्थ सभी प्रतिबंधों से मुक्ति और व्यक्ति की क्षमताओं के विकास का अवसर प्रदान करना है। स्वतंत्रता की इस भावना के लिए आर्थिक स्वतंत्रता होना जरूरी है। आर्थिक अभाव और असुरक्षा की भावना मानव की क्षमता को विकसित करने में वैसे ही बाधक है जैसे कि वह राजनीतिक और सामाजिक प्रतिबंधों से होती है।

इस प्रकार के विचार से स्वतंत्रता नकारात्मक भावना नहीं रहती। उसका अर्थ है कि व्यक्ति के ऊपर ऐसे प्रतिबंध न हों और व्यक्ति को ऐसा जीवनस्तर प्राप्त करने का अवसर

मिले जिससे उसकी क्षमताओं का विकास हो सके। स्वतंत्रता का अभिप्राय व्यक्ति को इस योग्य बनाना है जिसमें वह पूरी तरह से मानव-प्राणी का पूरा जीवन प्राप्त कर सके।

अन्य प्राणियों की भांति मानव भी निरंतर अस्तित्व के संघर्ष में लगा रहता है। प्रारंभिक स्थिति में मानव को प्रतिकूल परिस्थितियों और प्रकृति की क्रूरता से संघर्ष करके अपने जीवन को सुरक्षित रखने के लिए संघर्ष करना पड़ता था। उसे अपने लिए भोजन प्राप्त करने और अपने जीवन की रक्षा के लिए संघर्ष करना पड़ता था। उसे अधिक गर्मी और सर्दी से अपनी रक्षा करनी पड़ती थी। सूखे की स्थिति और बाढ़ के प्रकोप से, जंगली जानवरों और शिकारी जानवरों से, अपनी रक्षा करने के लिए साधनों को प्राप्त करना पड़ता था। लेकिन उस समय वह अन्य प्राणियों की अपेक्षा ऊंचे स्तर का जीवन प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता था। वह अपनी भावनाओं और आत्मचेतना की रक्षा करने के लिए भी चिंतित रहता था। वह अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए औजार बनाने का प्रयत्न करता था, भांड और बर्तन भी बनाने का प्रयत्न करता था। जहां वह रहता था उन कंदराओं में रंगों का प्रयोग करके भित्तिचित्र भी बनाता था। उसका जीवन के लिए अपना संघर्ष सदैव स्वतंत्रता के लिए भी संघर्ष था। आज भी वह स्वतंत्रता के लिए अपने संघर्ष में भिन्न रूपों में लगा हुआ है जो प्राचीन पाशविक युग और सभ्यता के युग की संक्रांति के बाद से निरंतर चल रहा है। मानव का स्वतंत्रता के लिए संघर्ष प्राणी जगत के अस्तित्व के संघर्ष का वह रूप है जो मानव बुद्धि, भावना और आत्म चेतना के पहले से ऊंचे स्तर में आने के बाद भी जारी रख रहा है। प्राणी जगत के लिए जिस प्रकार अस्तित्व का संघर्ष आधारभूत था वैसे ही मानव जीवन के लिए स्वतंत्रता का संघर्ष उसके लिए आधारभूत है।

यही कारण है कि शब्दकोश में 'स्वतंत्रता' का शब्द सबसे अधिक भावनात्मक है। स्वतंत्रता के विचार के समान दूसरा कोई अन्य विचार सकारात्मक प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं करता है। सभी मानवों की इच्छा मानव की भांति जीवित रहना है और उनकी इस इच्छा में स्वतंत्रता का विचार सम्मिलित है।

स्वतंत्रता का अर्थ धीरे-धीरे सभी प्रतिबंधों का नष्ट होना है जो उसकी व्यक्तिगत क्षमता के विचार में विवेकशील मानव के जीवन प्राप्त करने के मार्ग में बाधक है। मानव स्वेच्छा से ऐसे प्रतिबंधों को स्वीकार कर लेता है जो सार्वजनिक हित में लगाए जाते हैं। स्वतंत्रता केवल विवेकशील मानव ही भोग सकता है। फिर भी क्योंकि स्वतंत्रता आधारभूत मानवमूल्य है अतः किसी व्यक्ति की स्वतंत्रता पर तब तक प्रतिबंध नहीं लगाना चाहिए जब तक वह दूसरे मानव-व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए आवश्यक न हो। समानता का अर्थ सभी व्यक्तियों के लिए स्वतंत्रता की समानता है। यही कारण है कि व्यक्ति की स्वतंत्रता पर केवल तर्कसंगत और विवेकजन्य ऐसे प्रतिबंध लगाए जा सकते हैं जिनसे सभी व्यक्तियों की समानता सुरक्षित की जा सके।

मानव क्षमताएं

हमने मानव-जीवन के निम्नकोटि से भिन्न जीवन के ऊंचे स्तर के अंतर की बात कही है। हमने विवेकसंपन्न व्यक्ति की क्षमताओं के विकास की भी चर्चा की है। मानव का उच्च जीवनस्तर निम्न जीवनस्तर से कैसे भिन्न है और विवेक-संपन्न मानव की क्या क्षमताएं हैं? इन प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक है। आधुनिक मनोविज्ञान कहता है कि मानव की मानसिक स्थिति निम्न कोटि के प्राणियों की मानसिक स्थिति से दो बातों में भिन्न है। (देखिए एरिक फ्राम की पुस्तक 'एनाटामी आफ ह्यूमन डेस्ट्रक्टिवनेस', 1973, पेंगुइन बुक्स, पृष्ठ 300-302)

पहली बात यह है मानव के व्यवहार में प्राणियों की सहज प्रक्रिया का प्रभाव बहुत कम रह जाता है। प्राणी जगत के विकास क्रम में यह देखने को मिलता है कि उन्नत प्राणियों में उनका मस्तिष्क विकसित हो जाता है और उसकी विचार-शक्ति बढ़ जाती है। उसके साथ ही उसकी सहज प्रक्रिया उस के व्यवहार में घट जाती है। दूसरी बात यह है कि मानव का मस्तिष्क अधिक उन्नत होता है और उसकी विचारशक्ति बहुत बढ़ गई है। तथ्य यह है कि मानव मस्तिष्क की विचार तंतु-कोशिका अपने आदिम मानव से तीन गुना अधिक है। इसके अतिरिक्त मानव मस्तिष्क ने आत्मचेतना से अधिक नवीन गुण विकसित कर लिया है। अब मानव न केवल सोचता और अनुभव करता है वरन् उसमें यह चेतना भी है कि उसके विचार और चिंता क्या हैं? मानव की इस आत्मचेतना से उसकी संभावनाओं और उत्तरदायित्व के नए क्षितिज उत्पन्न हो गए हैं।

ऊपर यह कहा गया है कि मानवजीवन में सहज प्रक्रिया उस के व्यवहार को बहुत कम प्रभावित करती है; इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि मानव में सहज प्रक्रिया का लोप हो गया। (आधुनिक मनोवैज्ञानिक उस व्यवहार को 'प्रवृत्ति' और 'दिशा' कहते हैं) उक्त कथन का इतना ही तात्पर्य है कि इन बातों का मानव व्यवहार पर सीमित प्रभाव

रह गया है। मानव के मस्तिष्क के विकास और उसकी विचार शक्ति के बढ़ने का ही यह परिणाम है कि उसमें आत्मचेतना अधिक हो गई है। उसे अपनी सहज प्रक्रिया का भी ज्ञान है और वह अपनी अभिव्यक्ति और व्यवहार में उस के प्रभाव को नियंत्रित कर सकता है। वह सहज प्रक्रिया की अच्छाई और बुराई को भी समझ सकता है और विशेष परिस्थिति में उन पर विचार करके अच्छाई और बुराई के आधार पर अपना फैसला कर सकता है। इस प्रकार प्राणी जगत की सहज प्रक्रिया को वह अपनी आत्मचेतना से संयमित कर सकता है।

मानव में उच्च स्तर के मस्तिष्क की शक्ति और आत्मचेतना के आधार पर उसके विकास की क्षमताएं बहुत बढ़ जाती हैं। ये क्षमताएं भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं।

भौतिक जीवन और अस्तित्व के मामले में मानव अन्य प्राणियों की तुलना में अच्छा जीवन व्यतीत करता है। वह अपने लिए आरामदेह मकान बना सकता है, उपयोगी और आकर्षक वस्त्र तैयार कर सकता है, सुस्वादु और पौष्टिक भोजन तैयार कर सकता है। रोगों की रोकथाम और चिकित्सा के लिए ओषधियां बना सकता है और उन्नत संचार-साधन और यातायात के साधन विकसित कर सकता है।

बौद्धिक क्षेत्र में मानव की क्षमताएं तो असीमित हैं। भौतिक विज्ञान (परमाणु भौतिक विज्ञान सहित), रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान, चिकित्सा और अन्य विज्ञानों में जो अनुसंधान हुए हैं वे आश्चर्यजनक हैं। ज्ञान के क्षेत्र की प्रत्येक प्रगति से अज्ञान का विशाल क्षेत्र प्रकट होता है और ज्ञान की प्रगति की कोई सीमा नहीं है।

मानव में नैतिकता के परिष्कार की भी क्षमता है। यद्यपि वर्तमान नैतिकता जटिल आधुनिक समाज की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की तुलना में कम है लेकिन मानव में नैतिकता की भावना को बढ़ाने की क्षमता है जिससे वह मानव के दुख और अन्याय को समाप्त करने में सहायक हो सके। आधुनिक समय में व्यक्ति की नैतिक क्षमता को और अधिक उन्नत बनाने की चरम आवश्यकता है।

सृजनात्मक कला के क्षेत्र में भी मानव की क्षमताओं को बढ़ाने की आवश्यकता है। साहित्य, संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला, नृत्य और नाटक के क्षेत्र में मानव ने अभूतपूर्व विकास किया है।

ये सभी सफलताएं मानव-जीवन को समृद्ध बनाती हैं। मानव अपनी कलात्मक उन्नति और कलात्मक कृति की प्रक्रिया में संतोष प्राप्त करता है। मानव-जीवन के दोहरे विकास और समृद्धि के विश्लेषण की आवश्यकता है।

मानव-प्राणियों में निम्नकोटि के जीव-जगत की भांति उसकी अनेक भावनाएं और इच्छाएं जीवन के अस्तित्व के लिए प्राकृतिक चयन की प्रक्रिया विकसित करने में सहायक होती हैं। विभिन्न अवयव, दृष्टि, आवाज, गंध, स्वाद और स्पर्श भी उक्त प्रक्रिया में सहायक होते हैं। मानव-जीवन में आत्म चेतना अधिक उन्नत होने के कारण उसकी ज्ञानेंद्रियां संतोष प्राप्ति के स्वतंत्र स्रोत बन गए हैं। कुछ उदाहरणों से इस वक्तव्य को स्पष्ट किया जा सकता है।

भोजन के सुस्वाद होने से सभी प्राणियों में भोजन करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है जो मानव के समान अन्य प्राणियों में रहती है। मानव भोजन करते समय भोजन के स्वाद का ही आनंद नहीं लेता वरन् भोजन करते समय अच्छे स्वाद के महत्त्व को समझता है। इस प्रकार मानव के लिए स्वाद भी स्वतंत्र रूप से संतोष का स्रोत बन जाता है। मानव अपने स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए ही नहीं, स्वाद का संतोष प्राप्त करने के लिए भोजन करता है। फलतः वह स्वाद के गुण को बढ़ाने का अनेक प्रकार से प्रयत्न करता है। कभी-कभी भूख न होने पर स्वाद की संतुष्टि के लिए मानव भोजन करता है। इस प्रकार स्वादिष्ट भोजन शरीर को स्वस्थ बनाने में सहायक होने के अतिरिक्त संतोष का अलग स्रोत बन जाता है।

यही बात दूसरी ज्ञानेंद्रियों के संबंध में सत्य है। मानव पुष्प की सुगंध और इत्र आदि की गंध से संतोष प्राप्त करता है। प्रकृति और कलाकृतियों से, संगीत से मानव संतोष प्राप्त करता है। शरीर पर ताप और शीत के प्रभाव से भी वह संतोष प्राप्त करता है।

इसी भांति काम की इच्छा एक ओर जीवन के अस्तित्व और पुनः उत्पादन की प्रक्रिया में सहायक होती है, साथ ही उससे स्वतंत्र रूप से संतोष प्राप्त किया जा सकता है। पुरुष केवल संतति के लिए नहीं, व्यक्तिगत तुष्टि के लिए काम की प्रवृत्ति अपनाता है।

अन्य इच्छाओं से भी मानव-जीवन को समृद्ध बनाने में अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका पूरी होती है। अनुसंधान की इच्छा मानव-जीवन की एक प्राकृतिक इच्छा है। इच्छा का आरंभ संभवतः खाने की तलाश से होता है। यह इच्छा सभी जीव-जंतुओं की पहली इच्छा रही होगी। दूसरी इच्छाओं की पूर्ति, भोजन प्राप्त करने और उसके उपभोग करने की प्रक्रिया के समान है। इस प्रकार प्राणी-जगत की स्वाभाविक

इच्छा के आधार पर ही मानव की यह इच्छा विकसित होती है। मानव जब जिस बात को जानना चाहता है और उसे जानने में सफलता मिलती है तो उसको अपार संतोष मिलता है। इसी भांति जब वैज्ञानिक नई खोज अथवा अनुसंधान में सफलता प्राप्त करता है तो उसे संतोष प्राप्त होता है। ज्ञान प्राप्ति किसी भी क्षेत्र में हो उससे संतोष प्राप्त होता है। इस प्रकार यह कथन कि 'ज्ञान स्वतः अपनी उपलब्धि है', यह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उचित है। व्यक्ति ज्ञान के लिए ज्ञान अर्जित करने का प्रयास करता है। उससे किसी भी क्षेत्र में नई खोज करने की उपलब्धि से वह ज्ञान के द्वारा मानव जाति को लाभ पहुंचाने के साथ-साथ आत्मगत संतोष भी प्राप्त करता है।

मनुष्य में सहानुभूति और दया की भावनाएं होती हैं। ये भावनाएं सामाजिक और नैतिक इच्छाएं हैं। इस प्रकार की इच्छाएं कैसे उत्पन्न होती हैं, इस बात पर विचार किया जाना चाहिए। यहां हमारे कहने का इतना ही तात्पर्य है कि सामाजिक इच्छाओं को पूरा करने से भी व्यक्ति को संतोष प्राप्त होता है। जब कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के कष्टों का निवारण करता है अथवा दूसरे व्यक्ति की आवश्यकता को पूरा करता है तो वह अपनी सामाजिक इच्छा को पूरा करने और उचित लक्ष्य की प्राप्ति का संतोष प्राप्त करता है।

मानव की कलात्मक क्षमताओं पर विचार करते समय इस बात के मनोवैज्ञानिक साक्ष्य मिलते हैं कि मानव स्वभाव में सृजनात्मक और नयापन लाने की प्रवृत्ति मौजूद रहती है। इस बात का भी साक्ष्य मिलता है कि मानव मस्तिष्क में सृजनात्मक शक्ति विद्यमान है। ('एरिक फ्राम', पूर्व उल्लिखित पुस्तक, पृष्ठ-66) अब तक यह स्पष्ट नहीं हुआ है कि अस्तित्व की इच्छा का मस्तिष्क की सृजनात्मक शक्ति से क्या संबंध है? इसका कारण यह है कि मनोविज्ञान और सौंदर्य विज्ञान नए विज्ञान हैं। फिर भी इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि सृजनात्मक शक्ति मानव स्वभाव में निहित है। प्रागैतिहासिक मानव के क्रिया-कलापों और बालकों में भी इस प्रकार की सृजनात्मक शक्ति पाई जाती है। अन्य इच्छाओं की भांति सृजनात्मक इच्छा से भी स्वतंत्र रूप से संतोष प्राप्त होता है। एक कलाकार कला की उत्कृष्टता से आनंद प्राप्त करता है।

इस प्रकार मानव-जीवन निम्न स्तर के प्राणियों के अस्तित्व और स्तर से भिन्न है। मस्तिष्क के विकास के कारण मानव अधिक सुख-सुविधा संपन्न भौतिक जीवन प्राप्त करता है और वह बौद्धिक, नैतिक और कला के कार्यों में लगाता है। मानव जीवन भौतिक और मानसिक संतोषों के द्वारा अपने को अधिक समृद्ध बना सकता है। स्वतंत्रता सभी प्रकार के प्रतिबंधों को समाप्त करती है जिससे व्यक्ति अपने जीवन का पूरा विकास कर सके और उसको अच्छा बना सके तथा अभीष्ट दिशाओं में अपनी क्षमताओं को बढ़ा सके। इस प्रकार स्वतंत्रता के लिए संघर्ष प्राणी-जीवन के अस्तित्व के संघर्ष से जुड़ा है फिर भी उसका लक्ष्य उसकी अपेक्षा अधिक उन्नत है।

मानव-व्यक्ति ऐसी क्षमताओं को अपनाने में समर्थ है जो उसके लिए और दूसरों के लिए हानिकारक हो। इस प्रकार की क्षमताओं को स्वतंत्रता की परिभाषा में शामिल नहीं किया जा सकता है। व्यक्ति अपनी शक्ति से अधिक कार्य करके और भोग-लिप्सा में पड़कर अपने स्वास्थ्य को नष्ट कर सकता है। व्यक्ति दुखवादी अथवा आत्मपीड़न की प्रवृत्ति से अपनी और दूसरों की हानि कर सकता है। ये दोनों ही अविवेकी चरित्र के लक्षण माने जाते हैं। विवेक संपन्न व्यक्ति की क्षमताएं उसकी और दूसरे लोगों की तथा समाज की भलाई में सहायक होती हैं। स्वतंत्रता इस प्रकार की सृजनात्मक और कल्याणकारी क्षमताओं पर प्रतिबंधों को समाप्त करने के पक्ष में है।

स्वतंत्रता की इच्छा की कुदिशा

मानव की स्वतंत्रता की इच्छा भिन्न-भिन्न तरीकों से कुदिशा की ओर मुड़ जाती है। इस प्रकार की कुछ प्रवृत्तियां इस समय महत्त्वपूर्ण हैं।

आर्थिक भलाई और सुरक्षा स्वतंत्रता की भावना में निहित हैं। व्यक्ति बहुधा इस बात को समझने में असफल रहता है कि उसे दूसरों के साथ सहयोग के द्वारा अपनी आर्थिक भलाई और सुरक्षा का प्रयत्न करना चाहिए। इसके स्थान पर वह राजनीतिक उद्धारकर्ता की कृपा पर आश्रित होकर अपनी आर्थिक भलाई और सुरक्षा पाने की लालसा अपनाता है। इस प्रकार वह आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करने में अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता खो बैठता है। यह अनुभवसिद्ध बात है कि व्यक्ति अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता का आत्मसमर्पण करके अपनी आर्थिक स्वतंत्रता को भी सीमित कर लेता है। इतना ही नहीं, वह अपने विकास को, क्षमता को भी सीमित कर लेता है। इस प्रकार स्वतंत्रता के संघर्ष को एक क्षेत्र में सीमित करने की प्रवृत्ति हानिकारक है। आत्मनिर्भरता और सभी क्षेत्रों में स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए सोद्देश्य सहयोग आवश्यक है।

❖

सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन्

अहिंसक समाज के सूत्र

❑❑

यदि हमारी सभ्यता नष्ट हुई, तो उसका कारण यह नहीं होगा कि यह पता नहीं था कि उसकी रक्षा करने के लिए क्या करना आवश्यक है; अपितु उसका कारण उस समय भी, जबकि रोगी मरता दीख रहा है, ओषधि न लेने का हठ होगा। हममें शांति और व्यवस्थित स्वाधीनता के नए समाज के सिद्धांतों को समझ पाने की नैतिक ऊर्जा और सामाजिक सूझ-बूझ का अभाव है। शिक्षा का प्रयोजन यह नहीं है कि वह हमें सामाजिक परिवेश (आसपास की परिस्थितियों) के उपयुक्त बना दे, अपितु यह है कि वह बुराइयों से लड़ने में और एक पूर्णतर समाज के सृजन में हमारी सहायता करे। संसार का विकास बर्बरता और रक्तपात द्वारा नहीं होता। यह युद्ध सुखी भविष्य के निमित्त विकास-संघर्ष में कोई अनिवार्य सोपान नहीं है। हम सामाजिक परिवेश की दया पर उतनी पूरी तरह निर्भर नहीं हैं, जितना कि विकासवादी दृष्टिकोण बताता है। सामाजिक विफलता में मनुष्य की विफलता ही प्रतिबिंबित होती है। 'लीग' विफल हुई, तो इसलिए कि 'लीग' को चलाने की तीव्र इच्छा ही लोगों में नहीं थी। राजनीतिक संस्थाएं व्यष्टि नागरिकों की भावनाओं और विचार की आदतों से आगे नहीं निकल जा सकतीं। राजनीतिक समझदारी सामाजिक परिपक्वता से पहले नहीं आ सकती। सामाजिक प्रगति बाहरी साधनों द्वारा नहीं हो सकती। इसका निर्धारण मनुष्य के अंतस्तम लोकोत्तर अनुभवों द्वारा होता है। हमें हृदय को फिर नवीन बनाने के लिए, जीवन-मूल्यों के रूपांतरण के लिए और शाश्वत के दावों के सम्मुख आत्मा के समर्पण के लिए कार्य करना चाहिए। हम सब उन्हीं एक ही तारों की ओर देखते हैं, हम सब एक ही आकाश के नीचे स्वप्न लेते हैं, हम एक ही ग्रह पर रह रहे सह-यात्री हैं; और यदि हम अलग-अलग मार्गों द्वारा परम सत्य को पाने का यत्न करें, तो वह कोई खास बात नहीं है। अस्तित्व की पहेली इतनी बड़ी है, कि इसके उत्तर तक पहुंचने का केवल एक ही रास्ता नहीं हो सकता।

बुद्धिजीवी लोगों को राजनीति या प्रशासन के वास्तविक कार्यों में भाग लेने की आवश्यकता नहीं है। उनका मुख्य काम बौद्धिक ईमानदारी की पूर्णता के साथ समाज की सेवा करना है। उन्हें इस प्रकार की सामाजिक चेतना और उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न करनी चाहिए, जो राजनीतिक समुदाय की सीमाओं से ऊपर हो। जो लोग इस ढंग से समाज की सेवा कर सकते हैं, उनका यह कर्तव्य हो जाता है कि वे राजनीति में हिस्सा न लें। प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं, जिनके लिए राजनीतिक गतिविधि में हिस्सा लेना प्रतिभा का दुष्प्रयोग और अपने प्रति निष्ठाहीनता होगी। वे जहां हैं, वहीं रहते हुए अपनी प्रतिभा के प्रति सच्चे रहते हैं और समाज की अपने अज्ञान को हटाने में थोड़ी-बहुत सहायता करते हैं। वे संसार को तभी कुछ दे सकते हैं, जबकि वे संसार से स्वतंत्र रहें।

चरखे से लेकर आंतरिक ज्वलन वाले इंजिन तक के साधन विशुद्ध रूप से सामाजिक उपयोगिता के साधन हैं। उनका कोई निजी नैतिक मूल्य नहीं है। वे केवल तभी तक मूल्यवान हैं, जब तक उनका उपयोग उच्चतर नैतिक उद्देश्यों के लिए होता है। प्रगति के साधन अपने-आपमें कोई उद्देश्य नहीं हैं। शाश्वत को सांसारिक के अधीन करके, अनिवार्य को आकस्मिक के अधीन करके, अनंत को क्षणिक के अधीन करके जीवन-मूल्यों को विकृत करने की आदत को केवल सबल शिक्षा द्वारा रोका जा सकता है। शिक्षा आत्मा में मनुष्य का सतत जन्म है; यह आंतरिक राज्य की ओर जाने वाला राजमार्ग है। सारी बाह्य महिमा आंतरिक प्रकाश का प्रतिफलन-मात्र है। शिक्षा सर्वोच्च जीवन-मूल्यों के चुनाव की और उन पर दृढ़ रहने की पूर्व कल्पना करती है। हमें ऐसे समुदाय के लिए कार्य करना चाहिए, जो राज्य की अपेक्षा अधिक विस्तृत और अधिक गंभीर हो। वह समुदाय किस ढंग का हो, यह हमारे आदर्शों पर निर्भर है। यदि हम उदारदलीय हैं, तो यह मानवता है; यदि हम अनुदारदलीय हैं, तो यह राष्ट्र है; यदि हम साम्यवादी हैं, तो यह विश्व का श्रमजीवी वर्ग है; यदि हम नाजी हैं; तो यह जाति है।

राज्य अपने-आप में कोई अंतिम उद्देश्य नहीं है। उससे भी आगे एक और विस्तृततर समुदाय है, जिसके प्रति हमारी गंभीरतम निष्ठा होनी उचित है।

राजनीतिक कार्यों के अंतिम उद्देश्यों का विचार विचारकों और लेखकों द्वारा किया जाना चाहिए। विचारकों और लेखकों के रूप में समाज सचेतन और आत्म-आलोचक बनता है। वे किसी भी समाज के जीवन-मूल्यों के संरक्षक हैं, उन जीवन-मूल्यों के, जो किसी भी समाज का वास्तविक जीवन और स्वभाव हैं। विचारकों और लेखकों का काम हमें समाज की वास्तविक आत्मा की चेतना तक शिक्षित करना, हमें आत्मिक आलस्य और मानसिक गंवारपन से बचाना है। संसार के लोगों में मित्रता और साहचर्य की भावना का विकास करने में उन्हें हमारी सहायता करनी चाहिए। अरस्तु कहता है कि बिना मित्रता के न्याय हो ही नहीं सकता। महान विचारक मानवता से लघुतर किसी वस्तु को अपने प्रेम का पात्र नहीं मानते। सारा संसार उनके लिए कुटुंब है। गेटे को लगता था कि फ्रांसीसियों से घृणा कर पाना उसके लिए असंभव है। उसने ऐकरमैन को लिखा था, 'मेरे लिए, जो लड़ाकू प्रवृत्ति का नहीं हूं और न जिसे युद्ध से अनुराग ही है, ऐसे गीत एक मुखौटे के समान होते, जो मेरे मुख पर जरा भी न फबते। मैंने अपनी कविता में कभी कृत्रिम प्रदर्शन नहीं किया। बिना विद्वेष के मैं घृणा के गीत किस प्रकार लिख सकता था? और, यह मेरे और तुम्हारे बीच ही रहे, मैं फ्रांसीसियों से घृणा नहीं करता था, यद्यपि जब उनसे हमें मुक्ति मिली, तो मैंने परमात्मा का धन्यवाद किया। मैं, जिसके लिए सभ्यता और असभ्यता ही केवल दो महत्त्वपूर्ण अंतर हैं, एक ऐसे राष्ट्र (फ्रांसीसियों) से कैसे घृणा कर सकता था, जो संसार के सबसे अधिक सभ्य राष्ट्रों में से एक है, मेरी अपनी अधिकांश शिक्षा का श्रेय जिस राष्ट्र को है! सामान्य रूप से, राष्ट्रीय वैमनस्य एक विलक्षण वस्तु है। सभ्यता की निम्नतम कोटियों में यह सदा तीव्रतम और उग्रतम होता है। पर एक स्थिति ऐसी है, जहां पहुंचकर यह लुप्त हो जाता है; वहां हम मानो राष्ट्रों से ऊपर खड़े होते हैं और हम अपनी पड़ोसी जातियों के सुख और दुख को उसी प्रकार अनुभव करते हैं, जैसे वह हमारा अपना हो।' देशभक्ति सामान्यतया केवल विद्वेष ही होती है; उस विद्वेष को ऐसी शब्दावली में छिपाया गया होता है, जिससे वह लोगों को ग्राह्य हो सके। इस देशभक्ति को धारीदार वर्दीवाले, चांदी के पदक लगाए और मधुर गीत गाते हुए सामान्य लोगों के सामने प्रशंसनीय बताकर प्रस्तुत किया जाता है। विश्व-प्रेम ही वह लक्ष्य है, जहां तक पहुंचने का देशभक्ति साधन-मात्र है। हमारे शत्रु भी मानव-प्राणी हैं। सुख और दुख की प्रतिक्रिया उनमें भी हमारी भांति ही होती है। त्वचा के अंदर हम सब भाई-बहिन हैं। हमें अपनी विवेकशीलता और शांति को फिर प्राप्त करना चाहिए और इस संसार के पागलखाने में, जो असह्य रूप से कोलाहलपूर्ण और क्रूर होता जा रहा है, हमें बेचैनी अनुभव होनी चाहिए। इस संसार का शासन समझदारी से होना चाहिए।

बुद्धिजीवी लोगों को राजनीति या प्रशासन के वास्तविक कार्यों में भाग लेने की आवश्यकता नहीं है। उनका मुख्य काम बौद्धिक ईमानदारी की पूर्णता के साथ समाज की सेवा करना है। उन्हें इस प्रकार की सामाजिक चेतना और उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न करनी चाहिए, जो राजनीतिक समुदाय की सीमाओं से ऊपर हो। जो लोग इस ढंग से समाज की सेवा कर सकते हैं, उनका यह कर्तव्य हो जाता है कि वे राजनीति में हिस्सा न लें। प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं, जिनके लिए राजनीतिक गतिविधि में हिस्सा लेना प्रतिभा का दुष्प्रयोग और अपने प्रति निष्ठाहीनता होगी। वे जहां हैं, वहीं रहते हुए अपनी प्रतिभा के प्रति सच्चे रहते हैं और समाज की अपने अज्ञान को हटाने में थोड़ी-बहुत सहायता करते हैं। वे संसार को तभी कुछ दे सकते हैं, जबकि वे संसार से स्वतंत्र रहें। उन्हें सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों (मान्यताओं) की सेवा के लिए कार्य करना चाहिए, परंतु दुर्भाग्य से एकतंत्रीय शासन-पद्धतियां सामाजिक और बौद्धिक गतिविधियों का भी प्रयोग अपने ही उद्देश्यों को पूरा करने के लिए करती हैं। नई राजनीतियां एक प्रकार के राजनीतिक धर्म हैं, जो सामाजिक मुक्ति के लिए मसीही (पैगंबरी) आशाओं पर आधारित हैं। एकतंत्रवाद के आध्यात्मिक पिता तो बुद्धिजीवी वर्ग ही हैं। यदि बुद्धिजीवी लोग ही संस्कृति के हितों को त्याग दें, और आध्यात्मिक मूल्यों (मान्यताओं) का खंडन करें, तो हम उन राजनीतिज्ञों को दोष नहीं दे सकते, जो राज्य की सुरक्षा के लिए जिम्मेदार हैं। यदि जहाज का कप्तान यात्रियों के हितों की अपेक्षा जहाज की सुरक्षा को अधिक महत्त्व दे, तो उसे दोष नहीं दिया जा सकता। राज्य एक साधन है, लक्ष्य नहीं। ऐसे कुछ न कुछ आदमी सदा होंगे ही, जो परम मूल्यों की दुनिया में रहते हैं और उसी के लिए जीते हैं; जीवन या सुख, दोनों की ही गिनती उन परम मूल्यों में नहीं है। राजनीतिक और आर्थिक मूल्य (मान्यताएं) सापेक्ष होते हैं और गौण होते हैं। क्रांतदर्शी (पैगंबर) लोग अदृश्य को देखने में हमारी सहायता करते हैं और वर्तमान जीवन की दशाओं में शाश्वत का हमारे सम्मुख उद्घाटन करते हैं। इस संसार के मूल्यों की ओर से वे

लापरवाह होते हैं और वे अच्छाई (सत्) को क्रियान्वित करने में जुटे होते हैं। वे एकत्व को देखते हैं और दूसरों को भी इसे देख पाने में समर्थ बनाते हैं। वे हमारी मित्रता की भावना को सचेत करते हैं। उनमें होता है हृदय का साहस, आत्मा का सौजन्य और निर्भीकों का आनंदहास। 'सोसायटी आफ फ्रैंड्स' के टामस नेलर ने अपने अंतिम साक्ष्य भाषण में, जो कहा जाता है कि उसने अपने महाप्रयाण से लगभग दो घंटे पहले दिया था' कहा था, 'इस समय मैं एक ऐसी भावना का अनुभव कर रहा हूं, जिसे बुराई करने में कोई आनंद नहीं आता और जो न किसी बुराई का बदला ही लेना चाहती है, अपितु वह सब बातों को सहने में ही आनंद अनुभव करती है, इस आशा में कि अंत में वह अपने-आपमें आनंद पा सकेगी। उसे आशा है कि वह संपूर्ण क्रोध और विवाद की समाप्ति के बाद भी विद्यमान रहेगी; और वह सारे हर्ष और क्रूरता को, तथा अन्य जो भी कुछ उसके प्रतिकूल प्रकृति का है, उस सबको जीर्ण कर चुकने के बाद भी शेष रहेगी। यह सब प्रलोभनों के अंत को देखती है। क्योंकि स्वयं इसके अंदर कोई बुराई नहीं है, इसलिए यह दूसरों के प्रति विचारों में भी कोई बुरी बात नहीं लाती। यदि कोई इसके साथ दगा करे, तो यह उसे सह लेती है...यह शोक में गर्भरूप में पहुंचती है, और तब इसका जन्म होता है, जब इस पर दया करने वाला कोई नहीं होता; दुख और अत्याचार पर यह बुड़बुड़ाती भी नहीं। इसे केवल कष्टों में ही आनंद मिलता है, अन्य किसी प्रकार नहीं, क्योंकि संसार के आनंद से तो इसकी हत्या हो जाती है। मैंने इसे एकांत में, परित्यक्त होने पर पाया है। इसके द्वारा मुझे उनके साथ मित्रता की अनुभूति मिली है, जो खोहों में और उजाड़ स्थानों में रहते हैं।'

केवल कभी-कभी कोई विरली आत्मा सामान्य स्तर से ऊपर उठती है, जो परमात्मा का साक्षात् दर्शन करके दिव्य उद्देश्य को स्पष्टतर रूप में प्रतिफलित करती है, और दिव्य पथ-प्रदर्शन को और अधिक साहस के साथ व्यवहार में लाती है। इस प्रकार के मनुष्य का प्रकाश इस अंधकारमय और अव्यवस्था-भरे संसार पर संकेत-दीप की भांति चमकता है। आज भारत की स्थिति इसलिए अपेक्षाकृत अच्छी है, क्योंकि उसके जीवन में एक ऐसा व्यक्तित्व अवतरित हुआ है, जो परमात्मा की भेजी हुई अग्निशिखा है। उसका कष्ट-सहन भारत के आहत अभिमान का साकार रूप है और उसके सत्याग्रह में भारत की बुद्धिमत्ता का शाश्वत धैर्य प्रतिफलित होता है। एक निर्भीक भावना, लगभग अजेय इच्छा-शक्ति, सत्य और न्याय के प्रति एक अतिमानवीय उत्साह उसकी प्रमुख विशेषताएं हैं। गांधी हमारे सम्मुख अब तक मनुष्यों को ज्ञात आदर्शों में सबसे अधिक विशुद्ध, उन्नायक और प्रेरणाप्रद आदर्श प्रस्तुत करता है। उसका आध्यात्मिक प्रभाव एक निर्मल और विशुद्ध करने वाली ज्वाला है, जिसने बहुत-से मैल को जला डाला है और बहुत-से विशुद्ध स्वर्ण को निखारा है। उसका सारा जीवन अन-आत्मिक के विरुद्ध अविराम युद्ध के रूप में रहा है। बहुत-से लोग ऐसे भी हैं, जो उसे ऐसा पेशेवर राजनीतिज्ञ बताते हैं जो ठीक मौके पर काम बिगाड़ देता है। राजनीति एक अर्थ में एक पेशा है, और राजनीतिज्ञ वकील और इंजीनियर की भांति एक ऐसा व्यक्ति है, जिसे सार्वजनिक कार्यों को सुचारु रूप से करने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। परंतु एक और भी अर्थ है, जिसके अनुसार राजनीति एक धंधा है, और राजनीतिज्ञ एक ऐसा व्यक्ति है, जिसे अपने देशवासियों की रक्षा करने और उनमें एक सांझे आदर्श के प्रति प्रेम जगाने के अपने जीवन-लक्ष्य का ज्ञान है। संभव है कि इस प्रकार का व्यक्ति शासन के व्यावहारिक काम-काज में असफल सिद्ध हो, और फिर भी अपने अनुयाइयों में अपने सांझे लक्ष्य के प्रति अदम्य विश्वास भरने में सफल रहे। क्रौमवैल और लिंकन जैसे नेताओं में इन दोनों प्रकार के राजनीतिज्ञों का मिश्रित रूप विद्यमान रहता है। एक ओर तो वे स्वयं सामाजिक आदर्शों के जीते-जागते मूर्त रूप होते हैं और दूसरी ओर सार्वजनिक कार्यों के व्यावहारिक संगठनकर्ता भी होते हैं। गांधी, भले ही वह शासन की कला में भलीभांति प्रवीण न हो, दूसरे अर्थ में सचमुच ही राजनीतिज्ञ है। सबसे बढ़कर, वह एक नए संसार की आवाज है, एक परिपूर्णतर जीवन की आवाज, एक विस्तृततर और अपेक्षाकृत अधिक सर्वांगसंपूर्ण चेतना की आवाज। उसका दृढ़ विश्वास है कि धर्म के आधार पर हम एक ऐसे संसार का निर्माण कर सकते हैं, जिसमें न दरिद्रता हो, न बेकारी, और न युद्ध हों, न रक्तपात। 'उस संसार में अतीत के किसी भी काल की अपेक्षा परमात्मा में कहीं अधिक और गहरा विश्वास होगा। एक विस्तृत अर्थ में संसार धर्म के सहारे ही टिका हुआ है।' वह कहता है, 'आगामी कल का संसार अहिंसा पर आधारित होगा, उसे होना ही होगा। संभव है कि यह एक सुदूर लक्ष्य जान पड़े, एक आदर्श लोक (यूटोपिया)। परंतु यह तनिक भी अप्राप्य नहीं है, क्योंकि इसका निर्माण अभी और यहीं प्रारंभ किया जा सकता है। कोई भी व्यक्ति भविष्य की जीवन-पद्धति—अहिंसात्मक पद्धति—को, बिना यह प्रतीक्षा किए कि दूसरे भी उसे अपनाएं, अभी अपना सकता है। और यदि एक व्यक्ति ऐसा कर सकता है, तो मनुष्यों के समूचे के समूचे समूह ऐसा क्यों नहीं कर सकते? समूचे राष्ट्र? मनुष्य बहुधा प्रारंभ करने में

इसलिए हिचकते हैं, क्योंकि वे समझते हैं कि लक्ष्य को पूर्ण रूप में प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह मनोवृत्ति ही प्रगति के मार्ग में हमारी सबसे बड़ी बाधा है—एक ऐसी बाधा, जिसे हर एक मनुष्य, यदि वह केवल दृढ़ संकल्प कर ले, दूर हटा सकता है।' हमें इस दृष्टिकोण को परे हटा देना होगा कि परिवेश (आसपास की परिस्थितियां) कहीं अधिक बलशाली हैं और हम असहाय हैं।

यदि शाश्वत अच्छाई को समय रहते प्राप्त करना हो, तो हमें केवल उन साधनों का प्रयोग करना होगा, जो तात्त्विक रूप से अच्छे हैं। उसे जल्दी या बलप्रयोग के तात्त्विक रूप से बुरे कार्यों द्वारा प्राप्त करने के छोटे रास्तों का अवलंबन करने का परिणाम केवल विफलता ही होगा। अपराधी को बलपूर्वक नियंत्रित रखने या उसे नैतिक रूप से प्रभावित करने के दो उपायों में से दूसरा अधिक अच्छा है। यह युक्ति दी जाती है कि यदि शारीरिक बल द्वारा दमन बुरा है, तो नैतिक बल द्वारा दमन भी कुछ भला नहीं है। यह भी दमनात्मक है, मनाने के ढंग का नहीं; यह प्रेमपूर्ण की अपेक्षा उग्र अधिक है। बिना गोली चलाए या बिना लाठी का उपयोग किए भी लोगों की भीड़ को उनकी इच्छा के प्रतिकूल, उनके उत्कृष्टतर विवेक के प्रतिकूल किसी विशिष्ट प्रकार का कार्य करने के लिए विवश किया जा सकता है। फिर भी नैतिक रीति, मनाकर, समझाकर कार्य करने की पद्धति अधिक अच्छी है, क्योंकि इसमें यह स्वतंत्रता निहित है कि दूसरा व्यक्ति उस दबाव को चाहे तो स्वीकार करे, या अस्वीकार कर दे।

अहिंसा कायरता या दुर्बलता को छिपाने के लिए बहाना नहीं है। केवल वे ही लोग, जिनमें वीरता, कष्ट-सहिष्णुता और बलिदान की भावना के गुण हैं, अपने-आपको संयम में रख सकते हैं और शस्त्रों का प्रयोग किए बिना रह सकते हैं। हिंसा के परिणाम से डर कर अहिंसक बन जाना खतरनाक है। यह सोचना गलत है कि गांधी के दृष्टिकोण में जीवन का मूल्य स्वाधीनता से बढ़कर है। गांधी को मालूम है कि शारीरिक कष्ट सहना और मर जाना शारीरिक बुराइयां हैं; जिन्हें सहन किया जा सकता है और उचित ठहराया जा सकता है, यदि उनके द्वारा हम इतनी अच्छाई उत्पन्न कर सकें कि जिससे उनकी क्षतिपूर्ति हो सके। मनुष्य को नष्ट कर देने से कोई लाभ नहीं है; हमें उनके आचरणों को (तौर-तरीकों को) नष्ट करना चाहिए। यदि हम वर्तमान शासकों को हटा भी दें, और उसके बाद भी प्रणाली ज्यों की त्यों रहे, तो उससे कोई लाभ न होगा। युद्ध के मोरचे पर जाकर लड़ना ही सबसे बड़ी बुराई नहीं है; उससे भी अधिक बुरी समाज की वह दशा है, जिसमें सबल द्वारा निर्बल के प्रति हिंसा का प्रयोग संभव हो पाता है। हिटलर तो समाज की सड़ांध की (विषाक्त) दशा के बाह्य चिह्न-मात्र हैं, जिनकी केवल मरहम-पट्टी कर देने या उन्हें काटकर अलग कर देने से समाज की वास्तविक चिकित्सा नहीं हो सकती। यदि समाज को बचाना है, तो वर्तमान व्यवस्था का प्रतिरोध आवश्यक है; परंतु यह प्रतिरोध ऐसा होना चाहिए, जो झूठ और बेईमानी को कुचल दे। कुत्सित जीवन की अपेक्षा मृत्यु बुरी नहीं है। ❖

दरअसल सामाजिक भलाई है क्या? मैं तो इसे समाज की खुशहाली ही समझता हूं। यदि ऐसा है तो इसमें वे सभी चीजें आ गईं, जो एक व्यक्ति सोच सकता है—आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक। इस तरह यह प्रश्न मानव-कार्यप्रणाली और मानव-संबंध के सारे क्षेत्र को ढंक लेता है। फिर भी यह व्यापक अर्थ कभी इसके साथ लगाया नहीं जाता और हम इन शब्दों को बहुत ही अधिक सीमित अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। सामाजिक कार्यकर्ता या कार्यकर्त्री अधिकतर अपने को ऐसे कार्यक्षेत्र में कार्य करते हुए समझते हैं, जो राजनीतिक कार्य और आर्थिक सिद्धांत से बिल्कुल भिन्न है। वह पीड़ित मानवता को राहत पहुंचाने की चेष्टा करेंगे, रोग और गंदगी के खिलाफ जिहाद करेंगे, बेकारी और वेश्यावृत्ति को मिटाने की कोशिश करेंगे। वर्तमान अनीति में कमी कराने के लिए वे न्याय में भी परिवर्तन कराने का प्रयत्न करेंगे, पर वे समस्या के मूल तक कभी न जाएंगे, क्योंकि वर्तमान समाज के स्वरूप को जैसे-का-तैसा स्वीकार कर वे उसके महान अन्यायों को हलका करने में प्रयत्नशील रहते हैं।

—जवाहरलाल नेहरू

समणी अमितप्रज्ञा

लोकतंत्र का प्राणतत्त्व

❑

एक्का मणुस्सजाई

❑❑ .

स्वाधीनता दिवस पर विशेष

आजादी की लड़ाई में किसी को पता नहीं था कि कौन हिंदू है, कौन मुसलमान। आजादी मिलते ही कोई हिंदू, कोई मुसलमान हो गया। जातिवाद आजादी के बाद की ही फसल है। इस समस्या से समाधान पाने के लिए जातीयता और सांप्रदायिकता के बंधनों से मुक्त होकर 'एक्का मणुस्सजाई' घोष को मुखर करने की आवश्यकता है। स्वतंत्रता के कारण ही लोकतंत्र ने मनुष्य मन को जीता है, किंतु इसके आधारभूत पहलू संयम की उपेक्षा कर स्वतंत्रता को महत्त्वाकांक्षा में बदल दिया। महत्त्वाकांक्षा तथा क्षमता का संतुलन हो तथा लोकतंत्र के प्राणतत्त्व समानता को अपनाया जाए तो ही लोकतंत्र की सफलता असंदिग्ध कही जा सकती है।

आचार्यश्री तुलसी के सक्षम उत्तराधिकारी, आशुग्राही मेधा के धनी आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का जीवन प्रज्ञा, विनय, बुद्धि और समर्पण का अद्भुत संयोग है। धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, दार्शनिक—कोई भी क्षेत्र उनकी प्रज्ञा की पकड़ से अछूता नहीं है। आधुनिक युग के इस मनीषी ने विश्व के हर क्षेत्र को अपनी विलक्षण प्रतिभा से प्रभावित किया है। लोकतांत्रिक व्यवस्था को भी आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की चिंतना का स्पर्श मिला है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने भगवान महावीर को उद्धृत करते हुए ऐसे चार सिद्धांतों का वर्णन किया है जिनमें गणतंत्रीय भावना का स्पष्ट निदर्शन है। लोकतंत्र में इनकी उपयोगिता स्वयंसिद्ध है। वे सिद्धांत हैं—1. स्वतंत्रता 2. आत्मनिर्णय का अधिकार 3. आत्मानुशासन 4. सापेक्षता। इनकी क्रमशः विवेचना इस प्रकार है—

1. स्वतंत्रता

जिस व्यक्ति में स्वतंत्रता के प्रति अनुराग नहीं होता उसके सारे सिद्धांत शक्तिहीन हो जाते हैं। शक्ति का मूल स्रोत है—स्वतंत्रता। जनतंत्र का आधार है—जनता की शक्ति। जनता में स्वतंत्र रहने की तड़प हो तब ही जनतंत्र का उदय होता है।

2. आत्मनिर्णय का अधिकार

महावीर ने कहा—हमारे भाग्य का निर्णय किसी दूसरी सत्ता के हाथ में हो, वह सार्वभौम सत्ता के प्रतिकूल है। दुख और सुख दोनों तुम्हारी ही सृष्टि हैं। तुम्हीं अपने मित्र और अपने शत्रु हो। यह निर्णय तुम्हीं को करना है कि तुम क्या होना चाहते हो? जनतंत्र के लिए यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है। जहां व्यक्ति का आत्मनिर्णय का अधिकार नहीं होता, वहां उसका कर्तव्य कुंठित हो जाता है।

3. आत्मानुशासन

'दूसरों पर हुकूमत मत करो। हुकूमत करो अपने शरीर, वाणी और मन पर।' आचार्यश्री महाप्रज्ञजी भगवान महावीर के इन शब्दों में छिपे रहस्य की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि जनतंत्र की सफलता आत्मानुशासन पर निर्भर है। बाहरी नियंत्रण व्यक्ति को निस्तेज बना देता है।

4. सापेक्षता

सापेक्षता का अर्थ है—सबको समान अवसर। चलते समय एक पैर आगे बढ़ता है, दूसरा पीछे। फिर आगे वाला पीछे, पीछे वाला आगे हो जाता है, तभी आदमी आगे बढ़ता है।

यह सापेक्षता ही स्याद्वाद का रहस्य है। इससे सत्य का ज्ञान और निरूपण होता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं कि सापेक्षता जनतंत्र की रीढ़ है। नीतियां भिन्न होने पर भी यदि सापेक्षता हो तो अवांछनीय अलगाव नहीं होता।

भारत के पूर्व राष्ट्रपति राधाकृष्णन् ने कहा था—'आज का लोकतंत्र भगवान महावीर के अनेकांत दर्शन का फलित है। लोकतंत्र में आस्था रखने वाले लोग अनेकांत दर्शन का उपयोग करें तो लोकतंत्र की सफलता में संदेह नहीं रहेगा।'

लोकतंत्र क्या है?

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के अनुसार—शासन कम और आत्मानुशासन अधिक—लोकतंत्र इसका ही नाम है। आत्मानुशासन और संयम के बीच भेद-रेखा खींचना कठिन है। अणुव्रत का प्रमुख घोष है—'संयम ही जीवन है।' संयम के बिना आत्मानुशासन जीवंत नहीं रहता और आत्मानुशासन के बिना लोकतंत्र सफल नहीं होता।

विश्व में अनेक प्रकार की शासन प्रणालियों में से लोकतंत्र के प्रति ही लोगों की आस्था अधिक क्यों है? इसका मुख्य कारण है—इसमें ही प्रत्येक व्यक्ति को शिखर तक पहुंचने का अवसर मिलता है और जन-आकांक्षाओं की पूर्ति का भी इसमें पर्याप्त अवकाश है।

लोकतंत्र के आधार स्तंभ

लोकतंत्र के चार आधार स्तंभ हैं—1. संसद, 2. कार्यपालिका, 3. न्यायपालिका और 4. प्रेस।

ये चारों आधार स्तंभ स्वस्थ लोकतंत्र के सुचारू संचालन में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। संसद में लिए गए निर्णयों का क्रियान्वयन कार्यपालिका द्वारा अपेक्षित रहता है। सामान्य नागरिकों के अधिकारों की रक्षा न्यायपालिका करती है और संचारतंत्र जनहित और जनोपयोगी भावनाओं को प्रकाशित करता है। प्रजातांत्रिक व्यवस्था के अस्तित्व के लिए ये सभी कार्य आवश्यक हैं।

नेतृत्व का प्रश्न

प्रजातांत्रिक व्यवस्था में यह आशा की जाती है कि गलत कार्यों के लिए—विशेष रूप से जो व्यक्ति जनसेवा में लगे हैं, उन्हें उनके कार्यों के लिए जिम्मेदार ठहराया जा सके। लेकिन दुर्भाग्यवश हमारे लोकतंत्र में एक भी राष्ट्रीय स्तर का राजनीतिज्ञ ऐसे कार्यों के लिए न तो संसद द्वारा, न अन्य समितियों द्वारा जिम्मेदार ठहराया गया, अलबत्ता भारतीय लोकतंत्र पर संकट के बादल समय-समय पर मंडराते रहे हैं।

संसार के राजनीतिक मानचित्र पर दृष्टि डालें तो नेताओं की पदलिप्सा और स्वार्थलिप्सा के कारण चारों ओर आर्थिक संकट, सांस्कृतिक विघटन और नैतिक मूल्यों का ह्रास दिखाई दे रहा है। राष्ट्रीय नेताओं की इस धूमिल होती छवि के कारण सार्वजनिक जीवन में एकनिष्ठता का अभाव दृष्टिगत होता है। प्रामाणिकता और जवाबदेही लुप्त हो रही है। अतः लोकतंत्र-प्रणाली उत्तम होते हुए भी असफलता के घेरे में है। ऐसी स्थिति में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का कहना है कि—लोकतंत्र को चलाने वाले हाथ पवित्र होने चाहिएं। हाथ की पवित्रता के लिए अपेक्षित है कि नेताओं को सत्ता की भूख और अर्थ का आकर्षण न हो। यह बहुत बड़ी विडंबना है कि अबोध बच्चों को पढ़ाने के लिए प्रशिक्षित अध्यापक चाहिए, किंतु राष्ट्र का संचालन करने के लिए न किसी शैक्षिक योग्यता की आवश्यकता है और न आंतरिक अर्हता की। इस कमी की पूर्ति के लिए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं, किसी भी अच्छे नेता की छवि इन गुणों से निर्मित होनी चाहिए—1. चरित्रबल, 2. बौद्धिक क्षमता।

चरित्रबल

चरित्रबल का तात्पर्य—अहिंसा में आस्था, अर्थसंयम, आवेशों, आवेगों पर नियंत्रण की क्षमता, सामाजिक न्याय के प्रति समर्पण, सापेक्ष दृष्टिकोण और मानसिक संतुलन आदि से है।

बौद्धिक क्षमता

जन-नेता में तटस्थ एवं स्वतंत्र चिंतन-शक्ति का होना आवश्यक है। जिसमें इन गुणों का विकास है, वह नेता वातावरण, परिस्थिति एवं संघर्षजन्य दुखों से कोसों दूर रह सकता है और राष्ट्र का नेतृत्व भलीभांति कर सकता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने राजनीति और सार्वजनिक जीवन में प्रवेश पाने के लिए भी पांच कसौटियां निर्दिष्ट की हैं—1. संवेदनशीलता, 2. सेवा की भावना, 3. कष्ट-सहिष्णुता, 4. श्रम और स्वावलंबन, 5. राजनीतिक अधिकारों का अर्थार्जन के लिए उपयोग न करने का संकल्प।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का अभिमत है कि कोई भी तंत्र तब तक सफल नहीं होता, जब तक मनुष्य मनुष्य नहीं होगा। क्योंकि तंत्र का संचालक मनुष्य ही होता है। अतः यह देखना चाहिए कि क्या लोकतंत्र के सारथि का चारित्रिक बल पर्याप्त रूप में उन्नत और असंदिग्ध है?

लोकतंत्र की स्थिति

जवाहरलाल नेहरू ने भारतीय संसद में 14 और 15 अगस्त, 1947 की दरम्यानी रात को 12 बजे से कुछ क्षण

पहले घोषणा की थी कि—ऐसे गम्भीर मौके पर हम भारत, भारत की जनता और उससे भी बढ़कर मानवता की सेवा के लिए सब कुछ न्यौछावर करने की प्रतिज्ञा करते हैं। हमें स्वतंत्र भारत की ऐसी आलीशान इमारत बनाना है, जिसमें भारत के हर बच्चे को रहने की जगह हो। नेहरू के इस कथन को कसौटी पर रखें—क्या आज का लोकतंत्र हर आंख के आंसू पोंछने में समर्थ है? वर्तमान में देश की राजनीति का स्तर कहां जा पहुंचा है। निजी हितों को सर्वोपरि मानना और सत्ता की जोड़-तोड़ में लगे रहना ही क्या नेताओं का प्रमुख कार्य नहीं बन गया है? केकड़ा वृत्ति ने अपने पांव ऐसे जमा लिए हैं कि दल बदलकर सरकारें गिराई जा रही हैं और मतदाता मात्र मूक दर्शक बना हुआ है। मतदान की वर्तमान पद्धति से बहुमत प्राप्त दल का सत्तारूढ़ होना ही यदि लोकतंत्र हो तो इसका अभिनय कहीं भी किया जा सकता है। लगता है आत्मनियंत्रण, आत्मविश्वास और अनुशासन मानने की क्षमता का तो लोप ही हो गया है। तंत्र की गद्दी पर बैठने वालों की दृष्टि जन पर गौण तथा तंत्र पर मुख्य हो गई है।

लोकतंत्र की समस्याएं—आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का समाधान

1. सत्ता और शासन की कुर्सी प्राप्त करना, फिर लाभ की मनोवृत्ति के कारण केवल अपना स्वार्थ साधना—यह पहली समस्या है और आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इस समस्या का समाधान व्यक्तिगत संयम व आत्मानुशासन में देखते हैं। जब तक व्यक्ति का जीवन संयम की भावना से अनुप्राणित नहीं होगा तब तक वह अपने स्वार्थ को ही प्रधानता देता रहेगा। इसके लिए कोई प्रशिक्षण की भी आवश्यकता नहीं है। सम्राट भरत, चाणक्य, विदेह जनक—ये समर्थ शासक होते हुए भी व्यक्तिगत जीवन में निःस्पृह थे। आज का व्यक्ति उनके आदर्शों पर न चल सके, कोई बात नहीं, किंतु वर्तमान का कुछ तो आदर्श होना चाहिए। संयम की सीख आत्मानुशासन के धरातल पर होती है। अतः 'निज पर शासन फिर अनुशासन' यह सूत्र समस्या का समाधान करता है।

2. हमारी आजादी चौवन साल की हो गई। इन वर्षों में उसकी सेहत के क्या हाल रहे? मानो जवानी से पहले ही बुढ़ापा आ गया हो। पूरा देश इस समस्या से आक्रांत है। आश्वासन के आधार पर वोट प्राप्त किए जाते हैं। फिर वोटरों को खुश रखने के लिए अकरणीय कार्य करने की विवशता से भ्रष्टाचार पनपता है। बड़ा व्यक्ति भी अर्थ की चपेट में आकर घोटाले कर बैठता है। चुनावी प्रक्रिया के वरदान स्वरूप प्रशासन के हाथ में असीम अधिकार हैं, उनको पचा पाना मुश्किल है।

महाप्रज्ञजी की दृष्टि में इस समस्या का मूल कारण सुविधावादी दृष्टिकोण है। जहां भ्रष्टाचार पलेगा वहां से अन्याय, अनीति, दुश्चरित्र की दुर्गंध आती रहेगी। इसको दूर करने के लिए शासक को इंद्रियजई बनना चाहिए। सत्ता के सिंहासन पर बैठे शासक में त्याग के बीज अंकुरित होने चाहिएं, उनकी आंच में तपकर ही असीम अधिकारों को पचाया जा सकता है, तभी आर्थिक दृष्टि से उत्पन्न समस्याओं से मुक्ति पाई जा सकती है। गांधी की दृष्टि में भ्रष्टाचार के बढ़ने का सबसे बड़ा कारण है 'जटायु वृत्ति' का लोप। आज भ्रष्टाचार रूपी रावण मानवता रूपी सीता का अपहरण करके ले जा रहा है। जब तक प्रतिरोध रूपी जटायु आगे नहीं आएगा तब तक समस्या समाधान में नहीं बदलेगी।

3. लोकतंत्र की रीढ़ है चुनाव और चुनाव का लक्ष्य है—सही काम के लिए सही व्यक्तियों का चयन। यह लक्ष्य आज विस्मृत हो गया और जैसे-तैसे सत्ता हथियाना ही चुनाव का लक्ष्य बन गया। प्रलोभन और भय से स्वतंत्र चिंतन वाली मत प्रक्रिया खरीद की वस्तु बन गई है।

सांसदों के लिए कोई अर्हता और आचार संहिता न होने से यह अपेक्षित लगता है कि चुनाव अधिकारी को जनयाचिकाओं के आधार पर प्रत्येक प्रत्याशी की उपलब्धियों का मूल्यांकन करने का अधिकार होना चाहिए। इससे इस बात पर रोक लगेगी कि प्रत्याशी केवल दिल्ली अथवा राज्य की राजधानी में ही सीमित न रहे अपितु वह अपने चुनाव क्षेत्र में जाकर अधिकाधिक कार्य करे। राजनीति में अपराधी प्रकृति वाले प्रत्याशियों की रोकथाम के लिए यह आवश्यक है कि ग्राम पंचायत, जिला पंचायत, विधानसभा और संसद के चुनावों में ऐसे किसी व्यक्ति को चुनाव न लड़ने दिया जाए जिसके विरुद्ध कोई आपराधिक मामला चल रहा हो। चुनाव प्रक्रिया में इस नियम को हृदय से स्वीकार कर लिया जाए कि 'चुनाव के संबंध में अनैतिक आचरण नहीं करूंगा' तो बहुत सारी विसंगतियां, विषमताएं मिट सकती हैं। नेताओं का लक्ष्य वोटों के गलियारों से सत्ता के शिखर पर पहुंचना नहीं, अपितु लोकतंत्र के आदर्शों की सुरक्षा करना है।

4. स्वतंत्रता का अधिकार होने पर भी लोकतंत्र की वास्तविक सत्ता आज जातीयता, सांप्रदायिकता और क्षेत्रीयता में बद्ध है। इसलिए यह एक सचाई है कि सभी नागरिक स्वतंत्रता का उपयोग वास्तविक रूप से नहीं कर सकते हैं। कोई भी व्यक्ति दूसरों के अधिकार को मान्यता

देना नहीं चाहता। मानवीय संबंधों का बिखराव लोकतंत्र के स्वास्थ्य को लील जाता है।

आजादी की लड़ाई में किसी को पता नहीं था कि कौन हिंदू है, कौन मुसलमान। आजादी मिलते ही कोई हिंदू, कोई मुसलमान हो गया। जातिवाद आजादी के बाद की ही फसल है। इस समस्या से समाधान पाने के लिए जातीयता और सांप्रदायिकता के बंधनों से मुक्त होकर 'एक्का मणुस्सजाई' घोष को मुखर करने की आवश्यकता है। स्वतंत्रता के कारण ही लोकतंत्र ने मनुष्य मन को जीता है, किंतु इसके आधारभूत पहलू संयम की उपेक्षा कर स्वतंत्रता को महत्त्वाकांक्षा में बदल दिया। महत्त्वाकांक्षा तथा क्षमता का संतुलन हो तथा लोकतंत्र के प्राणतत्त्व समानता को अपनाया जाए तो ही लोकतंत्र की सफलता असंदिग्ध कही जा सकती है।

5. दलबदल की समस्या ने राजनीति को विकृत कर दिया है। सत्तापक्ष भी सत्ता की रक्षा के लिए दलबदलुओं को प्रोत्साहन देती है। दलहितार्थ राष्ट्रहितों की अनदेखी की जा रही है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इसका समाधान एक सक्षम नेतृत्व में देखते हैं। यदि राजनीति के क्षेत्र में भी प्रमुख पार्टियां अपने एक नेतृत्व के आदेशानुसार चलें तथा उसी पार्टी में अपनी आस्था बनाए रखें और नेतृत्व करने वाला सक्षम, नैतिक, ईमानदार, तटस्थ हो तो इस क्षेत्र में भी क्रांतिकारी परिवर्तन की आशा की जा सकती है।

प्रजातंत्र के आधार स्तंभ ही यदि चरमराने लगते हैं तो प्रजातंत्र का समूचा ढांचा ही चरमरा उठेगा। अतः आवश्यकता है संपूर्ण ढांचे को बदलने की। 54 वर्षों के प्रजातंत्र के बाद भी भारतीयों के मन में संसद के प्रति विश्वास में न कोई वृद्धि हुई है, न कोई उससे प्रेरणा मिली है। यह विचार भी सामने आता रहा है कि वर्तमान ढांचे के स्थान पर यदि राष्ट्रपति व्यवस्था लागू की जाए और जनता सीधे राष्ट्रपति का चयन करे तो वर्तमान संकट में यह व्यवस्था कुछ सीमा तक प्रासंगिक हो सकती है। यह मात्र व्यवस्था का मामला है। उन व्यक्तियों के चरित्र-निर्माण के प्रयासों की दिशा में विचार होना चाहिए जो इस राष्ट्र के आधार स्तंभों का निर्माण करते हैं। अपराध, भ्रष्टाचार और अवैधानिक शक्तियों के प्रयोग से पूरी चुनाव प्रक्रिया को नियंत्रित रखने की दिशा में दृढ़ता के साथ तभी कुछ हो सकेगा।

6. वर्तमान लोकतंत्र में संख्या को प्राधान्य है, गुणवत्ता को अवकाश नहीं है। झूठे आश्वासन, अनैतिक और भ्रष्ट आचरण से वोट प्राप्त कर चरित्रहीन, अनैतिक, भ्रष्टाचारी, अक्षम व्यक्ति भी मुख्य बन जाते हैं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का चिंतन है—'जीवन केवल संख्या के आधार पर चले और उसमें गुणवत्ता का विकास न हो तो श्रेष्ठता का निर्माण नहीं हो सकता।' आज यह आम धारणा है कि नैतिक बनकर रोटी नहीं प्राप्त की जा सकती, किंतु शांति का जीवन जीना है, अक्षमता का शासन मिटाना है तो नैतिक बनना होगा। वोट का अधिकारी वही बन सकता है जिसमें ये अर्हताएं हों—1. जो ईमानदार हो, 2. जो चरित्रवान हो, 3. जो नशामुक्त हो, 4. जो कार्यकुशल हो और 5. जो जाति, संप्रदाय से बंधा न हो।

7. अर्थशक्ति ही समस्त राजनीतिक बुराइयों की जड़ है। कोर्पोरेट सेक्टर द्वारा चुनाव में वित्तीय सहायता देना आम बात है, लेकिन भारत में ऐसे भुगतानों में अभी पारदर्शिता नहीं है। राजनीतिक दल अपने लेखों (एकाउन्ट्स) का न तो अंकेक्षण करवाने का सहास जुटा पाते हैं और न उन्हें सार्वजनिक करने का।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी मानते हैं कि धर्म के बिना अर्थ राज्यसत्ता को असदाचार की ओर ले जाता है। अतः उन्होंने आध्यात्मिक अनुशासन के साथ साधन-शुद्धि पर बल दिया है, जिससे अर्थशक्ति राजनीति पर हावी न हो जाए।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं कि लोकतंत्र के सारथियों की योग्यता के कुछ मानक निर्धारित होने चाहिएं। उज्ज्वल चरित्र, संयम, आत्मानुशासन, प्रामाणिकता आदि को कसौटियों के रूप में स्वीकार किया जाए तो समस्याएं समाहित हो सकती हैं।

इन सभी समस्याओं के बावजूद लोकतंत्र ही प्रभावी शासन-प्रणाली है, मात्र इस विशेषता के कारण कि कोई साधारण व्यक्ति भी बड़े से बड़े मंत्री या अधिकारी को न्यायालय में ले जा सकता है। सभी को यह आश्वासन है कि यदि मैं अपनी योग्यता, क्षमता को बढ़ाऊं तो प्रधानमंत्री भी बन सकता हूं। लोकतंत्र को खतरा नेतृत्व के अस्तित्व से नहीं, अपितु सही नेतृत्व के अभाव से है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी लोकतंत्र की समस्याओं के समाधान के लिए चिंतन, निर्णय और क्रियान्विति की मानसिकता के साथ कुछ बिंदुओं की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं—

1. राजनीति और धर्म की एक आचारसंहिता हो, 2. सम्राट अशोक के समय चरित्र-विकास के लिए स्वतंत्र मंत्रालय था, अब ऐसा न भी हो पर विकास की सूची में चरित्र-विकास को मुख्य स्थान मिले, 3. विवेक-चेतना जागृत हो, 4. विधानसभा और लोकसभा के सदस्यों के लिए

निश्चित अर्हताएं निर्धारित हों, 5. चुनाव योग्यता के आधार पर हों ताकि भ्रष्टाचार न फैले, 6. प्रजा को भी लोकतंत्र का महत्त्व बताया जाए, 7. संकल्पी हिंसा का, अन्याय और परिग्रह का सीमाकरण हो, 8. अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक शब्द का प्रयोग राष्ट्रीय मंच पर न हो, 9. राजनीति आत्मनीति और अध्यात्मनीति से अनुप्राणित हो।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि लोकतंत्र सापेक्षता, समानता, सहअस्तित्व और स्वतंत्रता के सिद्धांत को अपनाए। महाप्रज्ञजी कहते हैं—लोकतंत्र को चिरायु बनाने के लिए दो दिशाओं में प्रस्थान करना जरूरी है। हिंसा और परिग्रह के प्रति जनता का दृष्टिकोण बदले, ऐसा प्रशिक्षण शिक्षा के साथ चले। वर्तमान में शिक्षा केवल व्यवसाय, शिल्प, यांत्रिक विकास और शारीरिक स्वास्थ्य के साथ जुड़ी हुई है। उसका मार्ग बदलना आवश्यक है। उसका प्रवाह केवल जीविका की ओर है, वह जीवन की ओर भी मुड़े। आर्थिक स्पर्धा और सुविधावादी दृष्टिकोण का सर्वथा उन्मूलन करना संभव नहीं है, किंतु चेतना की उर्वरा में यदि हिंसा और परिग्रह की सीमा के बीज बोए जाएं तो लोकतंत्र का स्वस्थ विकल्प प्रस्तुत हो सकता है। हृदय परिवर्तन में भी आस्था अभिव्यक्त करें। नैतिकता से अलग हो, ऐसी राजनीति को छोड़ देना चाहिए—गांधी का यह विचार आज भी प्रासंगिक है। गांधी ने कहा था कि 'जो यह कहता है कि धर्म का राजनीति के साथ कोई संबंध नहीं वह धर्म को नहीं जानता।' आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—राजनीति में राग-द्वेषरूपी विकृतियों को दूर करने के लिए धर्म है न कि सांप्रदायिकता को बढ़ाने के लिए। सत्य, अहिंसा, नैतिकता-रूपी धर्म से शून्य राजनीति खतरे की घंटी से अधिक कुछ नहीं है। आवश्यकता है इन नैतिक मूल्यों को राजनीति में स्थान दिया जाए। दायित्वबोध के साथ दायित्वनिर्वाह की प्रेरणा जगाई जाए।

लोकतंत्र शुद्ध, पवित्र रहे इसलिए त्याग और प्रतिभा दोनों मिलकर कार्य करें तो सभी वर्गों के उत्थान की संभावनाएं हो सकती हैं और देश को भी सही नेतृत्व मिल सकता है तथा आजादी के समय रावी के तट पर की गई घोषणा 'हर हाथ को काम, हर खेत को पानी' सफल हो सकती है।

❖

जन्मजात लोकतंत्रवादी वह होता है, जो जन्म से ही अनुशासन का पालन करने वाला हो। लोकतंत्र स्वाभाविक रूप में उसी को प्राप्त होता है, जो साधारण रूप में अपने को मानवी तथा दैवी, सभी नियमों का स्वेच्छापूर्वक पालन करने का अभ्यस्त बना ले। जो लोग लोकतंत्र के इच्छुक हैं, उन्हें चाहिए कि पहले वे लोकतंत्र की इस कसौटी पर अपने को परख लें। इसके अलावा, लोकतंत्रवादी को निःस्वार्थ भी होना चाहिए। उसे अपनी या अपने दल की दृष्टि से नहीं, बल्कि एकमात्र लोकतंत्र की ही दृष्टि से सब-कुछ सोचना चाहिए, तभी वह सविनय अवज्ञा का अधिकारी हो सकता है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता की मैं कदर करता हूं, लेकिन आपको यह हरगिज नहीं भूलना चाहिए कि मनुष्य मूलतः एक सामाजिक प्राणी ही है। सामाजिक प्रगति की आवश्यकताओं के अनुसार अपने व्यक्तित्व को ढालना सीखकर ही वह वर्तमान स्थिति तक पहुंचा है। अबाध व्यक्तिवाद वन्य पशुओं का नियम है। हमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक संयम के बीच समन्वय करना सीखना है। समस्त समाज के हित की खातिर सामाजिक संयम के आगे स्वेच्छापूर्वक सिर झुकाने से व्यक्ति और समाज, जिसका कि वह एक सदस्य है, दोनों का ही कल्याण होता है।

—मोहनदास कर्मचंद गांधी

अनुभूति

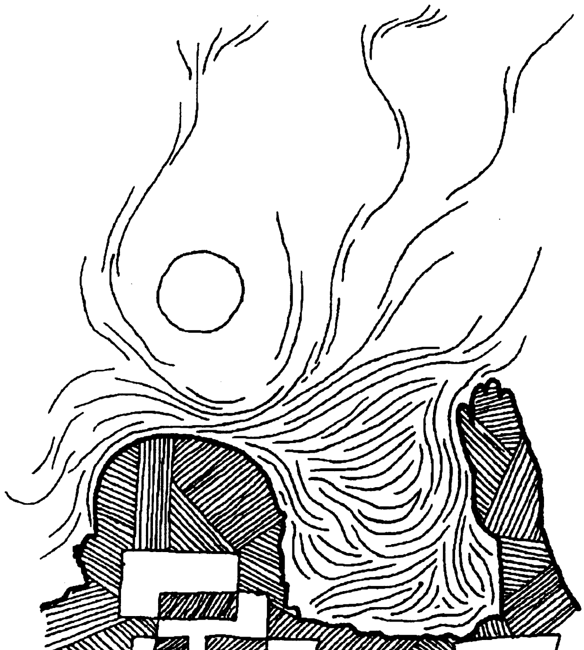

एक दिन लोगों ने देखा कि राबिया अपने झोंपड़े के बाहर गली में कुछ खोज रही थी। सब लोग इकट्ठे हो गए—बेचारी बुढ़िया...। लोगों ने पूछा, 'क्या हुआ? क्या खोज रही हो?'

वह बोली, 'मेरी सुई खो गई है, वही खोज रही हूं।' यह सुन सभी लोग सुई खोजने में उसकी मदद करने लगे। थोड़ी देर में जब शाम होने लगी तो एक ने पूछा, 'अंधेरा उतरने को है और सुई इतनी छोटी चीज है—क्या तुम बता सकती हो कि सुई आखिर गिरी कहां है?'

राबिया बोली, 'मेरे घर के अंदर।'

वे लोग बोले, 'क्या तुम पागल हो गई हो? सुई यदि घर के अंदर गिरी है तो तुम बाहर क्यों खोज रही हो?'

राबिया ने कहा, 'क्योंकि रोशनी यहां है। घर के भीतर तो कोई रोशनी नहीं है।'

तो किसी ने पूछा, 'लेकिन जब सुई यहां खोई ही नहीं तो हमें यहां कैसे मिल सकती है? तुम कुछ जलाकर घर के भीतर रोशनी करो और सुई को वहां खोजो।'

यह सुन कर राबिया हंसने लगी।

'छोटी-छोटी चीजों में तुम बड़े होशियार लोग हो,' वह बोली, 'अपने जीवन के लिए अपनी होशियारी कब काम में लाओगे? मैंने तुम सब को बाहर खोजते हुए देखा है और जो तुमने खोया है वह भीतर है। तुम आनंद बाहर क्यों खोज रहे हो? क्या तुमने उसे बाहर खोया है?'

वे लोग ठगे-से खड़े रह गए और राबिया अपने झोंपड़े में चली गई।

साध्वी मुदितयशा

दो कालजयी नक्षत्र

❑❑

जयाचार्य निर्वाणोत्सव
और
आचार्य महाप्रज्ञ
युगप्रधान अभिषेकोत्सव

अध्यात्म शाश्वत है, व्यवस्थाएं परिवर्तनशील। अध्यात्म सदा एकरूप रहता है, व्यवस्थाओं में अवधि के पश्चात् परिवर्तन अपेक्षित हो जाता है। जो आचार्य इस सत्य को अनदेखा करता है, वह शाश्वत की मूल्यवत्ता के आगे प्रश्नचिह्न लगा देता है। जयाचार्य ने इस सत्य का गहराई से अनुभव किया। उन्होंने मूल का संरक्षण करते हुए अनेक नई परंपराओं का प्रवर्तन किया।

❑❑

प्राचीन संस्कारों में पले समाज के लिए नवीनता सहजतया ग्राह्य नहीं बनती। उसके लिए आवश्यक है—यौक्तिक आधार और युगीन व्याख्या। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अपने तर्कबल और प्रज्ञाबल से हर नए चिंतन की समीक्षा की। युगीन संदर्भों में उसकी उपादेयता प्रतिष्ठित की।

वर्तमान का एक छोर है—अतीत, दूसरा है—भविष्य। व्यक्ति अतीत में जीता नहीं है पर अतीत की स्मृतियों को सहेज कर रखता है। वह अतीत के आलोक में वर्तमान की समीक्षा भी करता है। व्यक्ति भविष्य में जीता नहीं है पर भविष्य के इंद्रधनुषी सपनों में कल्पनाओं के रंग भरता है। सुंदर भविष्य के निर्माण हेतु संकल्प भी संजोता है। अतीत इतिहास है, भविष्य एक अज्ञात रहस्य। अतीत संरक्षण मांगता है, भविष्य अनवरत पुरुषार्थ। विश्वमंच पर अनेक इतिहासपुरुष आए और नए इतिहास का सृजन किया। समय-समय पर इतिहास की पुनरावृत्ति भी हुई। इसीलिए एक कहावत चल पड़ी—इतिहास भी स्वयं को दोहराता है।

तेरापंथ का इतिहास एकता और अखंडता का इतिहास है। अतीत, वर्तमान और भविष्य की अव्यवच्छिति का सुंदर निदर्शन है—तेरापंथ। एक आचार्य का नेतृत्व इसकी अपनी विशेष पहचान है। इसी एक नेतृत्व की डोर से बंधा यह संघ अपनी स्थापना के दो सौ चालीस वर्ष पार कर के भी जीवंत है, चिरनवीन है। तेरापंथ के आचार्यों व तपस्वी संतों ने इसे अपनी साधना से सींचा, पल्लवित, पुष्पित किया। इसकी जड़ों को उत्तरोत्तर मजबूत बनाने का प्रयास किया। उन्होंने इतिहास की सुरक्षा ही नहीं की, उसे समृद्ध भी बनाया। शिखर, ऊंचाइयां प्रदान कीं। तेरापंथ की आचार्य परंपरा उज्ज्वल रही है। इसी उज्ज्वल आचार्य परंपरा के दो नक्षत्र हैं—आचार्य जय और आचार्यश्री महाप्रज्ञजी। जयाचार्य इस संघ के चतुर्थ अधिशास्ता थे। इसके वर्तमान व दशम अधिशास्ता हैं—आचार्यश्री महाप्रज्ञजी। श्रीमज्जयाचार्य का निर्वाण (भाद्रपद कृष्णा द्वादश) और आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का युगप्रधान अलंकरण अभिषेक भाद्रव माह (भाद्रपद शुक्ला नवमी) में है। यह एक उज्ज्वल संयोग है।

दोनों ही कालजयी महामानवों ने अपनी अतींद्रिय प्रज्ञा से अनेक अज्ञात रहस्यों को अनावृत किया। आगमों का दोहन कर जैन शासन की अविच्छिन्नता का भगीरथ प्रयास किया। अंतर्दृष्टिसंपन्न दोनों ही महापुरुषों ने शक्ति की आराधना की। वे स्वयं ही शक्तिसंपन्न नहीं बने, संघ को भी शक्तिसंपन्न बनाया। ध्यान की गहराइयों में उतरकर नया सत्य उपलब्ध किया। जनता के समक्ष धर्म का सार्वभौम रूप उजागर किया। अपनी उर्वर मेधा से संघ की धरती पर साहित्य की मंदाकिनी प्रवाहित की। विचारक्रांति के पुरोधा बनकर विकास के नए क्षितिज उन्मुक्त किए।

जयाचार्य आगम मर्मज्ञ थे। वे बार-बार आगमों का स्वाध्याय करते। सिर्फ शब्दों की परिक्रमा कर लेना उन्हें पसंद नहीं था। वे अर्थ की गहराई में उतरने का प्रयास करते। शब्दों में छिपी अर्थात्मा का अनुचिंतन करते-करते बहुधा उन्हें एक नया रत्न, नया सत्य उपलब्ध हो जाता। धीरे-धीरे रहस्यों की पकड़ पैनी होती गई। वे अध्येता ही नहीं रहे। एक प्राणवान मर्मज्ञ साहित्यस्रष्टा बनकर उन्होंने दुनिया में अपनी प्रज्ञा का आलोक बांटा।

आगम शृंखला का सबसे विशाल ग्रंथ है— 'भगवती'। उसका ग्रंथमान सोलह हजार श्लोक प्रमाण है। आचार्य अभयदेव सूरि ने भगवती सूत्र पर व्याख्या ग्रंथ का प्रणयन किया।

उसका ग्रंथमान अठारह हजार श्लोक प्रमाण है। जयाचार्य ने भगवती सूत्र का पद्यानुवाद कर 'भगवती जोड़' की रचना की। वह अनुवाद और भाष्य दोनों है। उसका ग्रंथमान इकसठ हजार श्लोक प्रमाण है। राजस्थानी वांग्मय के विशालतम ग्रंथ की रचना कर जचाचार्य ने एक कीर्तिमान कायम किया। उन्होंने भगवती के अलावा अनेक आगमों का भी पद्यानुवाद किया। अनेक जीवनवृत्त लिखे। भक्तिकाव्य और उपदेशकाव्य बनाए। गुणानुवाद और स्तुतिपरक गीतों का निर्माण भी किया। इस तरह जयाचार्य ने अपनी सृजन चेतना से साहित्य की अनेक दिशाओं का स्पर्श किया। वर्तमान में जयाचार्य की इसी परंपरा में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी भी अवस्थित हैं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की साहित्य साधना विलक्षण है। उसी विलक्षणता का एक निदर्शन है—आगम संपादन। आचार्यश्री तुलसी के वाचना प्रमुखत्व में आगम संपादन की महायात्रा प्रारंभ हुई। उस महायात्रा के संचालन का मुख्य दायित्व आचार्यश्री महाप्रज्ञजी पर था। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने उस दुरूह यात्रा का बड़े कौशल के साथ संचालन किया और आज भी कर रहे हैं। इस हिमालयी योजना के प्रारंभ में अनेक लोगों ने संदेह व्यक्त किया, पर ज्यों-ज्यों कार्य आगे बढ़ा, संदेह के बादल छंटने लगे। विश्वास का आकाश निरभ्र होता गया। धीरे-धीरे यह स्वर मुखर होने लगा—'प्रामाणिक और ठोस कार्य कहीं हो सकता है तो एकमात्र आचार्यश्री तुलसी और आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के निर्देशन में ही हो सकता है।' आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने आगमों का शोधपरक आधुनिक संपादन कर विद्वत् समाज को नई दृष्टि प्रदान की है। आचारांगभाष्य और भगवतीभाष्य जैसे महाग्रंथों का निर्माण भाष्य परंपरा की समृद्ध कड़ी है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी अध्ययन से भी ज्यादा महत्त्व मनन और निदिध्यासन को देते हैं। वे पढ़ते कम हैं, अचिंतन या अनुचिंतन में ज्यादा रहते हैं। इसीलिए उनका हर विचार मौलिक स्फुरणा लिए होता है। आचार्यश्री ने आगमों का मंथन ही नहीं किया, साहित्य की हर विधा में अपनी लेखनी चलाई। काव्य, दर्शन, योग, तत्त्वविद्या, जीवनवृत्त व युगीन परिप्रेक्ष्य में लिखी उनकी सैकड़ों पुस्तकें पाठक को नई रोशनी देती हैं। महान दिगंबर संत आचार्य विद्यानन्दजी के शब्दों में 'आचार्यश्री महाप्रज्ञजी जैन जगत के महान दार्शनिक और तत्त्ववेत्ता हैं। बर्टेण्ड रसल, राधाकृष्णन् आदि दार्शनिकों की तुलना में आने वाले दार्शनिक हैं। जब भी इनके साहित्य का परिशीलन करता हूं, मुझे अपार हर्ष होता है। एक निर्ग्रंथ शासनसेवी का निर्मल हृदय और पारदर्शी व्यक्तित्व मन को लुभाने लगता है।'

आगम-मंथन और साहित्य-सृजन की दृष्टि से आचार्य जय और वर्तमान आचार्यश्री महाप्रज्ञजी दोनों ही युगांतरकारी महामानव के रूप में याद किए जाएंगे। दोनों ही महापुरुषों ने अपनी विचारक्रांति से युगबोध को जागृत किया है। विकास की सही अवधारणा प्रस्तुत की है।

किसी भी संगठन की चिरंजीविता के लिए शाश्वत और परिवर्तन दोनों का महत्त्व है। अध्यात्म शाश्वत है, व्यवस्थाएं परिवर्तनशील। अध्यात्म सदा एकरूप रहता है, व्यवस्थाओं में अवधि के पश्चात् परिवर्तन अपेक्षित हो जाता है। जो आचार्य इस सत्य को अनदेखा करता है, वह शाश्वत की मूल्यवत्ता के आगे प्रश्नचिह्न लगा देता है। जयाचार्य ने इस सत्य का गहराई से अनुभव किया। उन्होंने मूल का संरक्षण करते हुए अनेक नई परंपराओं का प्रवर्तन किया।

आचार्य भिक्षु ने व्यक्तिगत शिष्य परंपरा को समाप्त करके संघीय व्यवस्था का सूत्रपात किया। जयाचार्य ने उसका पल्लवन किया। समत्व और संविभाग की दृष्टि से अनेक व्यवस्थाओं को लागू किया। उन्होंने विधान बना दिया—'वर्ग के अग्रणी साधु-साध्वियों का किसी भी साधु-साध्वी पर व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं रहेगा। पुस्तकें आचार्य की निश्रा में रहेंगी। आहार और श्रम का संविभाग होगा। स्थान, वस्त्र एवं सामूहिक उपयोग की सभी वस्तुओं का समान वितरण होगा। अग्रणी साधु को प्रतिदिन पच्चीस गाथाएं लिखकर देनी होगी। अग्रणी साध्वी को प्रतिवर्ष एक रजोहरण व एक प्रमार्जनी तैयार करनी होगी। गाथाएं व्यक्तिगत हो सकेंगी। संघ से पृथक होने वालों के उपकरण संघ की निश्रा में रहेंगे। यात्रा और प्रवास आचार्य की आज्ञा से होगा। वापस आने पर साधु-साध्वियों व पुस्तकों का समर्पण अनिवार्य होगा।'

इस प्रकार अनेक नई व्यवस्थाओं का सूत्रपात कर जयाचार्यश्री नए युग के सूत्रधार बन गए। आचार्य भिक्षु ने जिस बीज का वपन किया, उसे विस्तार देकर शतशाखी बनाया जयाचार्यश्री ने। जयाचार्यश्री भिक्षुवाणी के सशक्त भाष्यकार बनकर संघ-नभ में उदित हुए।

प्रज्ञापुरुष जयाचार्यश्री के बाद तेरापंथ धर्मसंघ में क्रांति का नया अध्याय लिखा—आचार्यश्री तुलसी ने। आचार्यश्री तुलसी युगद्रष्टा थे। उनमें साहस और धैर्य का अद्भुत संगम था। वे आगे बढ़ना ही पर्याप्त नहीं मानते थे, हर मोड़ पर ठहरना और पीछे मुड़कर देखना भी बखूबी जानते थे। उन्होंने संघ और समाज, अंतरंग और बाह्य दोनों स्तरों पर क्रांति का शंखनाद किया। कोरी रूढ़िवादिता ठहराव पैदा करती है और कोरी प्रगतिशीलता व्यामोह। इसीलिए

क्रांतदर्शी व्यक्ति प्राचीन व अर्वाचीन में संतुलन बिठाकर चलते हैं। आचार्यश्री तुलसी ने प्राचीन अवधारणाओं को नए परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया तो साथ ही अनेक क्रांतिकारी परिवर्तन भी किए।

प्राचीन संस्कारों में पले समाज के लिए नवीनता सहजतया ग्राह्य नहीं बनती। उसके लिए आवश्यक है—यौक्तिक आधार और युगीन व्याख्या। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अपने तर्कबल और प्रज्ञाबल से हर नए चिंतन की समीक्षा की। युगीन संदर्भों में उसकी उपादेयता प्रतिष्ठित की। आचार्यश्री तुलसी की मेवाड़ यात्रा के दौरान संघ में विद्रोह और बिखराव का वातावरण बना। अणुव्रत, पारमार्थिक शिक्षण संस्था, धारणा प्रणाली, माइक, फोटो, प्रकाशन आदि प्रश्नों को लेकर अनेक वरिष्ठ संत संघ से पृथक हो गए।

उस समय विवादास्पद विषयों पर चर्चाएं करना, विद्रोही मुनियों से घंटों शास्त्रार्थ करना आदि कुछ ऐसे कार्य थे जिनके निर्वहन का दायित्व आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के कंधों पर था। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने आगम साहित्य, व्याख्या साहित्य, भिक्षुवाणी और संघीय परंपरा के आधार पर जो प्रमाण प्रस्तुत किए, वर्तमान में परिवर्तन की अपेक्षा को जिस ढंग से उभारा, बड़े-बड़े दिग्गज संत भी आश्चर्य का अनुभव करने लगे। आचार्यवर की अर्हताओं को देख कुछ संतों ने यहां तक कह दिया—'जब तक आचार्यश्री तुलसी के साथ मुनि नथमलजी (वर्तमान में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी) रहेंगे, उनकी क्रांति को विफल नहीं किया जा सकता। अतः जैसे-तैसे मुनि नथमलजी को विमुख किया जाए। किंतु उनका सपना पूरा नहीं हो सका। कल्पनाएं ज्यों की त्यों धरी रह गईं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का समर्पण आंतरिक था। आचार्यश्री तुलसी के प्रति उनकी निष्ठा अटूट थी। उन्होंने आचार्यश्री तुलसी की सूत्रवाणी का जिस ढंग से भाष्य किया और वे उनकी विचारक्रांति में जिस ढंग से सहयात्री बनकर रहे—वह सब इतिहास का अविस्मरणीय पृष्ठ है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी स्वयं लिखते हैं—'मुझे प्रारंभ से ही यह सौभाग्य मिला कि मैं उनकी हर कृति में उनके साथ रहा। चतुर्थ आचार्य जयाचार्यश्री को आचार्य भिक्षु का भाष्यकार होने का सौभाग्य मिला। मुझे आचार्यश्री तुलसी का भाष्यकार होने का सौभाग्य मिला और साथ-साथ आचार्य भिक्षु का भाष्यकार होने का सौभाग्य भी मुझे उपलब्ध हुआ।'

अध्यात्म के महान प्रयोक्ता पुरुष थे—आचार्य जय। उन्होंने अपने जीवन की प्रयोगशाला में साधना के अनेक प्रयोग किए। उनकी एकाग्रता और स्थितप्रज्ञता विश्रुत थी। उनका आभामंडल इतना शक्तिशाली था कि अन्यथा तत्त्व उनके सामने टिक ही नहीं पाते थे।

विक्रम संवत 1914 का चातुर्मास बीदासर में था। जयाचार्यश्री मानमलजी बैंगानी की हवेली में प्रवासित थे। कार्तिक शुक्ला दशमी के दिन एक अप्रत्याशित घटना घटी। जयाचार्यश्री जिस कक्ष में विराजमान थे, उसी कक्ष की छत से अचानक अंगारों की वर्षा शुरू हो गई। देखते ही देखते सारे साधु मूर्च्छित हो गए। जयाचार्यश्री अप्रकंप विराजमान थे। उन्होंने अपनी शक्ति का प्रयोग किया। तत्काल 'मुणीन्द मोरा भिक्षु ने भारीमाल' गीत की रचना कर उसका सस्वर संगान शुरू कर दिया। कुछ ही क्षणों में उपद्रव शांत हो गया। साधुओं की चेतना लौट आई। यह था जयाचार्यश्री की आध्यात्मिक तेजस्विता का एक निदर्शन।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का आध्यात्मिक तेज कितना प्रखर है—यह आज किसी से अज्ञात नहीं रहा। तीन वर्ष पूर्व सरदारशहर चातुर्मास में घटित घटना आज भी रोमांच पैदा करती है। आचार्यवर कमरे में विराजमान थे, अकस्मात् एक अग्निपिंड-सा प्रविष्ट हुआ। कहा जाता है—वह प्रयोग आचार्यश्री महाप्रज्ञजी व युवाचार्यश्री महाश्रमण पर था। आचार्यवर की आध्यात्मिक शक्ति के समक्ष वह शक्ति असहाय थी। उसकी प्रतिक्रिया पार्श्वस्थित समणीजी पर हुई। उनके शरीर के कण कण में आग-सी लगने लगी। कुछ ही क्षणों में जलन की अनुभूति भयंकर हो गई। अब उस स्थिति को सह पाना मुश्किल हो गया। आचार्यवर ने स्थिति को देखा। तत्काल यथार्थ को भांप लिया। पूरे ओज के साथ मंत्रों का उच्चारण शुरू कर दिया। कुछ ही मिनटों में उपद्रव शांत हो गया।

कुछ दिन पूर्व एक ज्योतिर्विद आचार्यश्री के उपपात में पहुंचा। उसने कहा—आचार्यजी! आपने अपनी साधना से मन और शरीर दोनों को साध लिया है। आपका रक्षा कवच इतना मजबूत है कि बड़ी से बड़ी शक्ति भी उसे भेद नहीं सकती। सचमुच, पवित्रता और तेजस्विता का उत्कर्ष है—आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का जीवन।

आत्मसाधना का एक उपक्रम है—मंत्रसाधना। जयाचार्यश्री की मंत्रसाधना विलक्षण थी। वे मंत्रप्रयोक्ता ही नहीं, मंत्र निर्माता भी थे। उन्होंने अनेक मंत्रों का निर्माण किया। उनके द्वारा निर्मित 'विघ्न हरण मंगल करण, स्वाम भिक्षु को नाम.....'। मंत्र आज जन-जन के मुख पर है। यह चित्त को एकाग्र बनाता है। विघ्नों के समय संकटमोचन का कार्य करता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी पहुंचे हुए मंत्रवेत्ता हैं। वे स्वयं प्रतिदिन मंत्रपदों का जप करते हैं। उनकी शक्तिमत्ता का

एक बड़ा कारण मंत्रपदों का जप भी है। आचार्यप्रवर ने अनेक मंत्रों की संयोजना की है। गुरुदेव श्री तुलसी की स्मृति में बनाया गया 'ॐ जय तुलसी तुलसी नाम, ॐ श्रीं ह्रीं अर्हं शिवधाम' मंत्र आज एक आध्यात्मिक चामत्कारिक मंत्र के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका है। लाखों लोग प्रतिदिन श्रद्धा के साथ इसका जप करते हैं।

ऐसा माना जाता है कि जयाचार्यश्री की सेवा में अनेक दिव्य शक्तियां रहती थीं। वे उनका सहयोग करती थीं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के साथ भी अनेक दिव्य प्रसंग जुड़े हुए हैं, जो अनुत्तरित हैं। आचार्यवर स्वयं कई बार कहते हैं कि 'मेरे जीवन की कई घटनाएं ऐसी हैं जिनके बारे में 'क्यों और कैसे' का कोई समाधान नहीं है। उनके बारे में मात्र इतना ही कहा जा सकता है कि 'वह हो गया'।

संघ का अनुशास्ता संघीय विकास की दृष्टि से सदा जागरूक रहता है। जयाचार्यश्री ने संघीय विकास की दृष्टि से बहुत पराक्रम किया। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने संघीय विकास व विस्तार की दृष्टि से कितना कार्य किया, इसका सुंदर दिग्दर्शन है गुरुदेव श्री तुलसी की ये पंक्तियां—'जब ये किसी गुरुतर दायित्व पर नहीं थे, तो भी संघ की बहुत-सी गतिविधियों की आर्त गवेषणा करते रहते थे। संघ में किस तरह विकास हो, इसका बराबर चिंतन करते रहते थे। इससे मुझे यह अंकन करने का अवसर मिला कि जो व्यक्ति प्रारंभ से ही संघ-विकास के लिए इतना चिंतनशील है, वह दायित्व देने के बाद इस दिशा में और अधिक प्रयास करेगा। मैं सोचता हूं, मैंने इनको दायित्व सौंपकर संघ का बहुत बड़ा हित किया है।'

जयाचार्यश्री ने संघ को 'मर्यादा महोत्सव' जैसा उत्सव प्रदान किया है तो आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने संघ को 'विकास महोत्सव' का वरदान दिया।

जयाचार्यश्री के व्यक्तित्व के बहुत आयाम हैं। किंतु उनकी नैसर्गिक अभिरुचि का विषय था—स्वाध्याय, ध्यान और आगम अध्ययन। उनके जीवन का संध्याकाल स्वाध्याय और ध्यान से संवलित था। वे ज्यों ही अन्य कार्यों से निवृत्त होते, ध्यान की गहराइयों में चले जाते। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की मनःस्थिति भी कुछ ऐसी ही है। परिषद के मध्य हों या एकांत में, वे ज्यादातर अपने भीतर ही रहते हैं। स्वयं उन्हीं के शब्दों में—'आजकल प्रायः ध्यान की ही स्थिति रहती है।' इतना ही नहीं, आचार्यवर कई बार कहते हैं—'मैं चाहता हूं, अब मेरा ज्यादा से ज्यादा समय आगम संपादन व ध्यान के विशेष प्रयोगों में योजित हो।'

जयाचार्यश्री और आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के जीवनवृत्त की अनेक रेखाएं समान हैं। दोनों की अपनी विलक्षणताएं भी हैं। ऋषिराय के महाप्रयाण के पश्चात् आचार्य पद पर जयाचार्यश्री अभिषिक्त हुए। आचार्यश्री तुलसी ने अपने हाथों से ही महाप्रज्ञजी का अभिषेक किया। जयाचार्य की आस्था के अनन्य केंद्र थे—आचार्य भिक्षु, पर उन्हें आचार्य भिक्षु की साक्षात् सेवा उपलब्ध नहीं हो सकी। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की आस्था के अनन्य केंद्र थे—आचार्यश्री तुलसी। वे 67 वर्षों तक आचार्यश्री तुलसी के साथ रहे। उन्हें अपने निर्माता के साथ अद्वैत बनकर जीने का अवसर प्राप्त हुआ।

तेरापंथ की प्रथम शताब्दी के अंतिम दशक में जयाचार्यश्री का युग प्रारंभ हुआ। दूसरी सदी का पूर्वार्ध प्रज्ञापुरुष जय की प्रज्ञा के आलोक से आलोकित बना। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के कर्तृत्व की कहानी तेरापंथ की तीसरी शताब्दी के साथ जुड़ी हुई है। जयाचार्यश्री ऊर्जा के अक्षय भंडार थे। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के आध्यात्मिक आभामंडल से निःसृत ऊर्जा की तरंगें आज संपूर्ण विश्व को शांति का पथ दिखा रही हैं। तेरापंथ धर्मसंघ दीर्घकाल तक उनकी ऊर्जस्वलता से लाभान्वित होता रहे। उनकी मंगल शासना में विकास के नए स्वस्तिक रचता रहे। ❖

अपना प्रिय पुत्र अज्ञानवश अथवा सन्निपात होने पर जब चाहे सो बकता है, मारने को दौड़ता है, न करने को करता है तब हम उसके प्रति क्रोध नहीं करते, दयाभाव से उसकी सेवा ही करते हैं और रोगमुक्त करने के लिए उसे दवा देते हैं और दूसरा कुछ न हो सका तो उसकी सारी हरकतें बरदाश्त करके उसके हित के लिए प्रार्थना ही करते हैं, उसी तरह विश्वात्मैक्य की भावना करने पर अपना विरोध करने वाले और दुश्मन कहलाने वाले लोगों के प्रति भी प्रेम और क्षमा की वृत्ति ही रखी जाती है।

—काका कालेलकर

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

संवत्सरी : अहेतुक उलझन

❑❑

पर्युषणा या संवत्सरी पर्व जीव मात्र के प्रति क्षमाशील होने का संदेश देता है। क्षमाशील तभी हुआ जा सकता है जब हम में सहिष्णुता आए—विचारों में भी और व्यवहार में भी। ऐसे पर्व के लिए संपूर्ण समाज में एक ही दिवस पर सहमति होनी चाहिए। भगवान महावीर के छब्बीसवें जन्म शताब्दी वर्ष की इस अवधि में यदि ऐसा हो जाए तो इस वर्ष की यह अविस्मरणीय सौगात होगी। इस महत्त्वपूर्ण बिंदु पर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी भ्रांतियों-शंकाओं पर विमर्शनीय समाधान प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं—'एक संवत्सरी मनाने की परंपरा का सूत्रपात करने में सत्य का कहीं कोई अतिक्रमण नहीं है। आवश्यकता है इस समस्या पर अनेकांत की दृष्टि से विचार हो और इस अहेतुक उलझन को समाप्त करने के लिए सभी आचार्य, मुनि और प्रबुद्ध श्रावक पहल करें।'

संवत्सरी जैन शासन का सबसे बड़ा पर्व है। यह धर्माराधना का पर्व है। इसलिए इसका महत्त्व सार्वदेशिक और सार्वकालिक है। सब चाहते हैं कि अलग-अलग संवत्सरी के विवाद का कोई समाधान हो। हमें समाधान के लिए अतीत में लौटना होगा। भगवान महावीर से लेकर वर्तमान परंपरा तक का अध्ययन करना होगा। इस अध्ययन के तीन चरण हो सकते हैं—

1. आगमकालीन व्यवस्था, 2. प्राचीन परंपरा, 3. वर्तमान परंपरा।

आगमकालीन व्यवस्था

आगम युग में संवत्सरी जैसा शब्द प्रचलित ही नहीं था। संवत्सरी का मूल नाम है—पर्युषणा। पर्युषणा के विषय में आगमों में अनेक निर्देश मिलते हैं—

निशीथ के अनुसार पर्युषणा में जो भिक्षु पर्युषणा नहीं करता, वह प्रायश्चित्त का भागी होता है। अपर्युषणा में जो भिक्षु पर्युषणा करता है, वह भी प्रायश्चित्त का भागी होता है।

पर्युषणाकल्प के अनुसार श्रमण भगवान महावीर ने वर्षा ऋतु के पचास दिन बीत जाने पर वर्षावास की पर्युषणा की थी। गणधरों, स्थविरों और श्रमण निर्ग्रंथों ने भी उस परंपरा का अनुसरण किया। इसमें केवल पचास दिन का उल्लेख है। समवायांग सूत्र में उत्तरवर्ती दिनों का भी उल्लेख किया गया है। उसके अनुसार श्रमण भगवान महावीर ने वर्षावास के पचासवें दिन तथा सत्तर दिन शेष रहने पर वर्षावास की पर्युषणा की।

प्राचीन परंपरा

भाष्य और चूर्णिकालीन परंपरा पर्युषणा की प्राचीन परंपरा है। निशीथ चूर्णि के अनुसार आषाढ़ पूर्णिमा से प्रारंभ हो कर पचासवें दिन तक पर्युषण की स्थापना की जाती थी। सामान्यतः संवत्सरी के प्रथम दिन पर्युषण की स्थापना की जाती थी। कारणवश परिवर्तन करना होता तो अंतिम तिथि भाद्रपद शुक्ला पंचमी होती—'ताहे भद्दवया जोण्हस्स पंचमीए पज्जोसवंति।'

आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा के दिन पर्युषणा करना उत्सर्ग मार्ग बतलाया है। अपवाद मार्ग में पांच-पांच बढ़ाने का निर्देश प्राप्त है। इसका नियम इस प्रकार रहा कि पर्युषण पर्व-तिथि में होना चाहिए, जैसे—पूर्णिमा, पंचमी और दसमी। अपर्व-तिथियों में पर्युषण करने का निषेध है। चतुर्थी को अपर्व-तिथि माना गया है। कालकाचार्य ने चतुर्थी के दिन संवत्सरी की, वह सामान्य विधि नहीं है। चूर्णिकार ने उसे कारणिक— किसी प्रयोजन विशेष से किया गया उपक्रम बतलाया है। उन्होंने लिखा है—'एवं जुगप्पहाणेहिं चउत्थी कारणे पवतिता।' पर्युषणाकल्प में स्पष्ट उल्लेख है कि पर्युषणा के लिए पंचमी का अतिक्रमण नहीं होना चाहिए।

वर्तमान परंपरा

वर्तमान परंपरा में पर्युषण के स्थान पर संवत्सरी शब्द का प्रयोग हो रहा है। पर्युषणा शब्द का प्रयोग संवत्सरी के सहायक दिनों के लिए होता है। पर्युषणा का मूल रूप संवत्सरी के नाम से प्रचलित हो गया। प्राचीन काल में पर्युषणा का एक ही दिन था। वर्तमान में अष्टाह्निक पर्युषणा मनाई जाती है और संवत्सरी का पर्व आठवें दिन मनाया जाता है। दिगंबर परंपरा में वर्तमान संवत्सरी के संदर्भ में संवत्सरी शब्द का प्रचलन नहीं है। उनकी परंपरा में दसलक्षण पर्व मनाया जाता है। सामान्य विधि के अनुसार उसका प्रथम दिन भाद्रपद शुक्ला पंचमी का दिन होता है। श्वेतांबर परंपरा में पंचमी से पहले सात दिन जोड़े गए हैं और दिगंबर परंपरा में नौ दिन उसके बाद जोड़े गए हैं। मूल दिन (पंचमी) में कोई अंतर नहीं है।

संवत्सरी : आज की समस्याएं

संवत्सरी के संबंध में मुख्य समस्याएं चार हैं—1. दो श्रावण मास, 2. दो भाद्रपद मास, 3. चतुर्थी और पंचमी, 4. उदिया तिथि और घड़िया तिथि।

जैन ज्योतिष के अनुसार वर्षा ऋतु में अधिक मास नहीं होता। इस दृष्टि से दो श्रावण मास और भाद्रपद मास की समस्या ही पैदा नहीं होती। सामान्यतया ज्योतिष के अनुसार वर्षा ऋतु में अधिक मास हो सकता है। दो श्रावण मास या दो भाद्रपद मास होने पर पर्वाराधन की विधि इस प्रकार है—कृष्ण पक्ष के पर्व की आराधना प्रथम मास के कृष्ण पक्ष में और शुक्ल पक्ष के पर्व की आराधना अधिकमास के शुक्ल पक्ष में।

समस्या अधिकमास की

जैन संप्रदायों में कुछ संप्रदाय दो श्रावण होने पर दूसरे श्रावण में पर्युषणा की आराधना करते हैं और भाद्रपद मास दो हों तो प्रथम भाद्रपद में पर्युषणा की आराधना करते हैं। ऐसा करने वालों का तर्क यह है कि संवत्सरी की आराधना पचासवें दिन करनी चाहिए। इस तर्क में सिद्धांत का एक पहलू ठीक है। किंतु उसका दूसरा पहलू 70 दिन शेष रहने चाहिए, विघटित हो जाता है। संपूर्ण नियम पहले 50 दिन और बाद में 70 दिन—दोनों पक्षों से संबंधित हैं।

जो पचासवें दिन को प्रमाण मानकर संवत्सरी करते हैं, उनके लिए शेष रहे 70 दिनों का प्रमाण भी रहना चाहिए। इसी प्रकार 70 दिन शेष रहने की बात पर दो श्रावण होने पर भाद्रपद में और दो भाद्रपद होने पर दूसरे भाद्रपद में संवत्सरी करने की स्थिति में संवत्सरी से पहले 50 दिन की व्यवस्था विघटित हो जाती है। इस समस्या का समाधान खोजना जरूरी है। इसका सीधा-सा समाधान है अधिकमास को मलमास या लुप्तमास मानकर संख्यांकित नहीं किया जाए। ऐसा होने से 50 दिन और 70 दिन दोनों की व्यवस्था बैठ सकती है।

वर्तमान में सभी जैन लौकिक पंचांग को आधार मानकर चल रहे हैं। इस दृष्टि से लौकिक ज्योतिष की धारणा को मान्य करके ही पर्व की आराधना करना उचित है। एक ओर आगमोक्त 50 और 70 दिनों का आग्रह, दूसरी ओर लौकिक ज्योतिष का आधार—ये दोनों बातें एक साथ संगत नहीं हो सकतीं। यदि 50 और 70 दिनों का आग्रह हो तो चातुर्मास में मास-वृद्धि अस्वीकार कर देनी चाहिए। यदि चातुर्मास में मास-वृद्धि की बात स्वीकार की जाती है तो लौकिक ज्योतिष के अनुसार पर्वाराधना की दृष्टि से पंद्रह दिन (कृष्ण पक्ष)प्रथम मास में और पंद्रह दिन (शुक्ल पक्ष) अधिकमास में मान्य होते हैं। इस धारणा के आधार पर दो भाद्रपद मास होने की स्थिति में संवत्सरी पर्व की आराधना द्वितीय भाद्रपद मास के शुक्ल पक्ष में होनी चाहिए।

भाष्यकालीन परंपरा में चातुर्मास के तीन विकल्प मिलते हैं—

- जघन्य चातुर्मास 70 दिन का,
- मध्यम चातुर्मास चार मास का और
- उत्कृष्ट चातुर्मास छह मास का।

'भगवती आराधना' दिगंबर परंपरा का प्रधान ग्रंथ है। उसकी परंपरा यह है—'उत्सर्ग विधि के अनुसार चातुर्मास 120 दिन का होता है। किंतु कारण की अपेक्षा से वह न्यून और अधिक भी हो सकता है।' दिगंबर परंपरा के आधार पर भी यही बात प्रमाणित होती है कि 50 और 70 दिन का उत्सर्ग नियम है। अपवाद विधि के अनुसार इसके अनेक विकल्प हो सकते हैं।

श्वेतांबर परंपरा में विरोधाभास इसलिए पल रहा है कि वहां एक ओर वर्षावास के 124 दिन मान्य किए गए हैं, दूसरी ओर लौकिक पंचांग भी मान्य किया गया है। उसके अनुसार वर्षावास में 120 दिन प्रायः नहीं होते। कुछ वर्षों की तालिका यहां प्रस्तुत की जा रही है—

वर्ष	संवत्सरी	शेष
वि.सं. 1946	49 दिन	69 दिन
वि.सं. 1947	49 दिन	69 दिन
वि.सं. 1948	49 दिन	69 दिन
वि.सं. 1949	49 दिन	70 दिन

इस विरोधाभास को मिटाने के लिए एक नई परंपरा के सूत्रपात की अपेक्षा है। उस नई परंपरा का क्रम ऐसा होना चाहिए, जिसमें सब संप्रदायों में ऐकमत्य हो जाए और लौकिक पंचांग को मान्य कर सारी व्यवस्था पर चिंतन किया जाए।

समस्या चतुर्थी और पंचमी की

तिथि की समस्या के मुख्य आधार दो हैं—

1. कालकाचार्य द्वारा अपवाद रूप में की गई चतुर्थी की संवत्सरी।
2. पचास और सत्तर दिन की संगति बिठाने के लिए कभी-कभी पंचमी के स्थान पर चतुर्थी को की जाने वाली संवत्सरी।

एक तीसरा विकल्प और बनता है—संवत्सरी से पूर्व 48 और 51 दिन मान्य नहीं हैं। इसी प्रकार संवत्सरी के बाद 68 और 71 दिन भी मान्य नहीं हैं। यदि संवत्सरी के बाद चातुर्मास में 68 दिन शेष रहते हों तो संवत्सरी चतुर्थी को की जाती है। इसी प्रकार यदि पंचमी 51वें दिन आती हो तो संवत्सरी चतुर्थी को की जाती है।

यद्यपि भाष्य-चूर्णिकाल में सामान्य विधि के अनुसार पंचमी की संवत्सरी ही मान्य रही है। यह 50 और 70 दिन के नियम के आधार पर की गई व्यवस्था है। 49वें दिन संवत्सरी की परंपरा उत्तरकालीन प्रतीत होती है। ऐसा प्रसंग कभी-कभी आता है।

समस्या उदिया तिथि और घड़िया तिथि की

तिथि के विषय में ज्योतिष में दो धारणाएं प्रचलित हैं—एक धारणा के अनुसार सूर्योदय के साथ तिथि का परिवर्तन मान्य है। दूसरी धारणा घड़ी के आधार पर तिथि-परिवर्तन का सिद्धांत मान्य करती है।

तिथि का नामोल्लेख सूर्योदय के साथ होने वाली तिथि का होता है जैसे—चतुर्दशी का सूर्य उगता है, वह तिथि चतुर्दशी कहलाती है। अष्टमी के दिन सूर्योदय होता है, वह तिथि अष्टमी कहलाती है।

हो सकता है, घड़ी के अनुसार सूर्योदय के समय चतुर्दशी तिथि बहुत कम समय के लिए शेष हो, फिर भी चतुर्दशी कहलाती है, क्योंकि हमारा सारा व्यवहार और लौकिक व्यवहार भी उदय तिथि के आधार पर चलता है। अष्टमी, चतुर्दशी के दिन किए जाने वाले धार्मिक अनुष्ठान और प्रत्याख्यान उदय तिथि के आधार पर संपन्न किए जाते हैं। ऐसी स्थिति में केवल संवत्सरी के लिए घड़ी के आधार पर परिवर्तित तिथि को स्वीकार करने का कोई कारण समझ में नहीं आता।

एक बार घड़िया तिथि के आधार पर महावीर जयंती भी दो दिन मनाई गई। समझ में नहीं आ रहा है कि जब हमारे अष्टमी, चतुर्दशी के अनुष्ठान उदय तिथि के आधार पर हो सकते हैं, तो संवत्सरी आदि पर्व क्यों नहीं हो सकते? इसी प्रकार पाक्षिक और चातुर्मासिक प्रतिक्रमण उदय तिथि के आधार पर ही किए जा रहे हैं और संवत्सरी प्रतिक्रमण के लिए घड़िया तिथि का प्रयोग किया जाता है। इस भेद का कारण भी समझ से परे है।

प्राचीन काल में वर्ष का प्रारंभ दीपावली, रामनवमी आदि पर्व दिनों से होता था। सरकार के सामने कठिनाई आई और सभी प्राचीन परंपराओं को बदलकर एक नई परंपरा स्थापित की गई। उस परंपरा के अनुसार अब आर्थिक वर्ष का प्रारंभ अप्रैल से होता है और उसका अंत 31 मार्च को होता है। अब भी दीपावली, दशहरा को पूजन करने वाले करते ही हैं, पर खाते-बहियों का प्रारंभ सरकार द्वारा स्थापित वर्ष के प्रथम दिन एक अप्रैल से ही होता है।

संवत्सरी को लेकर परंपरा-भेद चल रहा है। उसके कारण उलझी हुई समस्या को सुलझाया जा सकता है, यदि व्यवहार को प्रधान मानकर कार्यक्रम का निर्धारण किया जाए।

संवत्सरी : एकीकरण के प्रयत्न

सब जैन एक ही दिन संवत्सरी पर्व की आराधना करें, इस विषय का चिंतन लगभग चार-पांच दशक से चल रहा है। प्रायः सभी संप्रदायों के आचार्य, मुनि और प्रमुख श्रावक इस विषय में सहमति प्रकट करते रहे हैं कि संवत्सरी एक ही दिन होनी चाहिए। किंतु अपनी-अपनी परंपरा की पकड़ को न छोड़ने के कारण एकता की बात अधर में झूल रही है।

वि.सं. 2042 (10, 11 फरवरी, 1986) उदयपुर में आचार्यश्री तुलसी की सन्निधि में संवत्सरी पर्व की एकता के लिए एक संगोष्ठी आयोजित की गई। उसमें दिगंबर और श्वेतांबर—सभी परंपराओं के प्रतिनिधि उपस्थित हुए। उसमें संवत्सरी की एकता के लिए प्रभावी वातावरण बना। उस समय लिए गए निर्णय के अनुसार भारत जैन महामंडल के तत्त्वावधान में 'अखिल भारतीय जैन एकता समन्वय समिति' गठित की गई। 23 अगस्त, 1986 को मुंबई में भारत जैन महामंडल के अधिवेशन का आयोजन था। उस अवसर पर 'जैन एकता समन्वय समिति' द्वारा सर्वानुमति से एक प्रस्ताव स्वीकृत किया गया—

'महापर्व संवत्सरी की आराधना प्रतिवर्ष भाद्रव शुक्ला

पंचमी को ही एवं जब कभी माह बढ़े तो प्रथम मास को मलमास/अधिक मानकर नहीं गिना जाए। इसी प्रकार तिथियों के बढ़ने में भी प्रथम तिथि को मल तिथि मानकर बाद कर दिया जाए। तिथि का निर्णय घड़ियों के आधार पर नहीं, बल्कि सूर्योदय अर्थात् उदया तिथि के अनुसार हो।

हमारी विनम्र अपील है कि समस्त जैन समाज इस प्रस्ताव को स्वीकार कर एक साथ ही संवत्सरी महापर्व की उपासना करे। माननीय राष्ट्रपतिजी और भारत सरकार से अनुरोध है कि इस दिन को 'क्षमा-अहिंसा दिवस' के रूप में घोषित कर सार्वजनिक अवकाश एवं देश भर में कत्लखाने बंद करने का आदेश घोषित करें।'

जैसा विदित हुआ—इस प्रस्ताव को आचार्यश्री तुलसी, श्रमणसंघ के आचार्यश्री आनंदऋषिजी महाराज तथा कुछ मूर्तिपूजक आचार्यों ने मान्य किया। उसके आधार पर ही संवत्सरी पर्व की आराधना की गई। तीन-चार वर्ष के पश्चात् श्रमण संघ ने 'मुंबई प्रस्ताव' को अमान्य कर दिया। तेरापंथ धर्मसंघ में अभी भी संवत्सरी पर्व की आराधाना 'मुंबई प्रस्ताव' के अनुसार ही हो रही है।

आचार्यश्री तुलसी ने संवत्सरी पर्व की एकता के लिए अनेक बार घोषणा की थी—यदि जैन समाज संवत्सरी के लिए एक तिथि को मान्य करता है तो हम अपनी परंपरा में परिवर्तन भी कर सकते हैं। उस घोषणा के अनुसार मुंबई प्रस्ताव को मान्य करने से संघीय परंपरा में परिवर्तन भी करना पड़ा। इन वर्षों में परंपरा-परिवर्तन के दो प्रसंग भी उपस्थित हो गए—

- वि.सं. 2045 में हमारी परंपरा के अनुसार संवत्सरी चतुर्थी को होनी चाहिए थी, पर प्रस्ताव के अनुसार हमने पंचमी को संवत्सरी मनाई।
- दूसरा प्रसंग वर्ष वि.सं. 2050 का है। हमारी परंपरा के अनुसार प्रथम भाद्रपद मास में संवत्सरी मनाई जाती है, किंतु मुंबई प्रस्ताव के अनुसार हमने दूसरे भाद्रपद मास में संवत्सरी पर्व की आराधना को मान्य किया है।

करना ही होगा समस्या का समाधान

पर्युषणा या संवत्सरी की परंपरा कोई मूल गुण नहीं है, जिसमें कोई परिवर्तन न किया जा सके। यह सामान्य विधि (उत्सर्ग विधि) और विशेष विधि (अपवाद विधि) युक्त परंपरा है। वास्तव में एकता का लक्ष्य पुष्ट हो तो इसमें परिवर्तन किया जा सकता है। संवत्सरी की भिन्नता को लेकर आने वाली समस्याओं के प्रति हमारी जागरूकता हो तो एक संवत्सरी मनाने की परंपरा का सूत्रपात करने में सत्य का कहीं कोई अतिक्रमण नहीं है। आवश्यकता है इस समस्या पर अनेकांत की दृष्टि से विचार हो और इस अहेतुक उलझन को समाप्त करने के लिए सभी आचार्य, मुनि और प्रबुद्ध श्रावक पहल करें। आखिर एक दिन इस समस्या का समाधान करना ही होगा।

जैन समाज के सामने और भी बड़ी-बड़ी समस्याएं हैं। इस समस्या में उलझने पर बड़ी समस्याओं को सुलझाने का अवसर ही हाथ नहीं लगेगा। मैं विश्वास करता हूं कि हम सब इस विषय पर पूरी गंभीरता से चिंतन करेंगे तो द्वार अपने आप खुल जाएंगे। ❖

जो लोग भविष्य पर विजय पाना चाहते हैं उन्हें भूत से अपना मुंह मोड़ना होगा। लकवा-मार पारंपरिक जकड़ से पिंड छुड़ाना होगा। हमारी पुरानी संस्कृति की सांस है धर्म। अध्यात्मवाद वह विश्वास है जिसकी जांच नहीं हो सकती। उसका केवल आज्ञा पालन किया जा सकता है। यह वैश्विक चरम तत्त्व खोजने की हेतु विधा है। हर चीज ईश्वर द्वारा पूर्व निर्धारित है, यानी हर घटना पूर्व नियोजित होती है। इस प्रकार धार्मिक भावना, जो भारतीय संस्कृति की जान है, स्वाभाविक रूप में किसी भी मनुष्य-प्रेरित परिवर्तन के खिलाफ है। धार्मिकता के चोगे में भाग्यवाद भारत के लिए बहुत ही नुकसानदेह हो चुका है। धर्म में सुधार लाने का प्रोग्राम कभी सफल नहीं हो सकता। धर्म की शक्ति नित्यता के दावे में निहित है।

—एम. एन. राय

आचार्यश्री तुलसी

राष्ट्रीय चरित्र

❑

निरापद है आध्यात्मिक भावना

❑❑

हर स्थिति के निर्माण में सामग्री सहायक होती है, ठीक उसी तरह हर स्थिति के विघटन में भी ऐसा ही होता है। एक के बाद एक स्थिति घटित और विघटित होती रहती है। चरित्र के निर्माण और विघटन की भी अपनी-अपनी सामग्री होती है। कोई भी राष्ट्र जिसका राष्ट्रीय चरित्र उन्नत नहीं होता, प्रगति नहीं कर सकता। इसीलिए हर विचारशील व्यक्ति उसके चरित्र विकास के लिए चिंतन करता है और चरित्र-ह्रास के कारणों का निवारण करना चाहता है।

हम सुविधा के लिए चरित्र को वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय रूप में भले ही विभक्त कर लें, पर सही अर्थ में वह अविभक्त ही है। चरित्र-पतन का परिणाम अपने पर भी होता है, समाज पर भी और राष्ट्र पर भी। इसी प्रकार चरित्र-विकास का परिणाम भी व्यक्ति, समाज और राष्ट्र—इन सभी पर होता है।

चरित्र पतन के प्रमुख कारण हैं—1. चारित्रिक शिक्षा और साधना का अभाव, 2. वैयक्तिक दृष्टिकोण, 3. नियंत्रण शक्ति का अभाव, 4. बड़प्पन के कृत्रिम मानदंड, 5. आवश्यकता-पूर्ति का अभाव या विलासपूर्ण जीवन। इनका निवारण करने के लिए आवश्यक है—हर नागरिक को चारित्रिक शिक्षा मिले। कोरी शिक्षा ही नहीं, उसकी साधना का कार्यक्रम भी निश्चित किया जाए। जिस तरह साक्षरता, शिक्षा या सैनिक-शिक्षा को अनिवार्य करने की बात बहुत बार कही जाती है, उसी प्रकार चरित्र-शिक्षा की बात भी होनी चाहिए। जैसे तकनीकी विषयों का विशेष प्रशिक्षण दिया जाता है, वैसे ही चारित्रिक विषयों का भी विशेष प्रशिक्षण दिया जाए, उनकी साधना का अवसर दिया जाए। समूचा राष्ट्र चारित्रिक-आध्यात्मिक प्रशिक्षण प्राप्त करे, यानी हर नागरिक आचारनिष्ठ हो।

सामाजिकता वहीं स्वस्थ हो सकती है, जहां सामुदायिक जीवन के प्रति निष्ठा हो। वैयक्तिक स्वतंत्रता का बहुत महत्त्व है, पर वैयक्तिक स्वार्थ-साधनों का स्थान बहुत नीचा होना चाहिए। वैयक्तिकता केवल धर्म की साधना के लिए ही उपयुक्त है। लगता है, इस क्षेत्र में उलटी गंगा बह रही है। आत्म-साधना के क्षेत्र में वैयक्तिकता होनी चाहिए, वहां सामुदायिकता हो रही है। वहां आदमी सोचता है कि जब सब लोग सदाचार का पालन नहीं करते, तब मैं अकेला ही क्यों करूं? समाज के क्षेत्र में जहां सामुदायिकता होनी चाहिए, वहां व्यक्ति का चिंतन यह होता है कि मैं दूसरों की—किन-किन की चिंता करूं, मुझे अपनी रोटी पका लेनी चाहिए।

बहुत लोग ऐसे हैं, जो अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए समाज और राष्ट्र का अहित करने में तनिक भी नहीं सकुचाते। उनमें राष्ट्रीय भावना भरने की बात एक अस्थाई इलाज ही हो सकता है और इसमें राष्ट्रवादी कट्टरता का खतरा भी निहित है, जबकि आध्यात्मिक भावना भरना निरापद है और वह स्थाई प्रतिकार है। सबको समान समझने वाला किसी के प्रति अन्याय नहीं कर सकता। आध्यात्मिक मूल्यों के आधार पर विकसित होने वाला वैयक्तिक दृष्टिकोण ही वस्तुतः सामुदायिक दृष्टिकोण होता है।

भौतिक समृद्धि से बहुत कुछ प्राप्त हो सकता है, किंतु मानसिक संतुलन या अपनी नियंत्रण शक्ति का विकास उससे नहीं होता। उसके लिए आत्म-निरीक्षण बहुत आवश्यक है। आवेगों को रोकने की क्षमता प्राप्त किए बिना बहुत बार अनिष्ट घटनाएं घटित हो जाती हैं। विधानसभा या लोकसभा जैसी संस्थाओं में आवेगपूर्ण घटनाओं के समाचारों

पर आश्चर्य होता है कि इतने आवेगशील आदमी क्या जनता का सही अर्थ में प्रतिनिधित्व कर सकते हैं? तब लगता है कि आवेग नियंत्रण-शक्ति के अभ्यास-केंद्र की बहुत आवश्यकता है।

बड़प्पन की मिथ्या मान्यता भी राष्ट्रीय चरित्र-विकास में बहुत बड़ी बाधा है। पद बड़प्पन की भूमिका नहीं, किंतु कार्य की कसौटी है। उसका वरण समता के साथ हो तो वह कुछ प्रयोजनीय बनता है, अन्यथा वह राष्ट्र या जनता के साथ विश्वासघात होता है। मानवीय योग्यता का इतना विकास किया जाना चाहिए कि जिससे पद आकर्षण की वस्तु ही न रहे। अणुव्रतों की साधना इस की पूर्ति का बहुत बड़ा साधन है। अणुव्रत केवल छोटे लोगों के लिए ही नहीं है। बड़े लोगों ने ऐसा मान रखा है कि उनके लिए व्रत की कोई आवश्यकता ही नहीं।

व्यक्ति की न्यूनतम आवश्यकता-पूर्ति का अभाव आज राष्ट्रीय चरित्र-विकास में बाधक है, किंतु विलासपूर्ण जीवन भी उसमें कम बाधा नहीं है। अभाव की पूर्ति श्रम या साधनों को बढ़ाने से हो सकती है, किंतु साधनों की वृद्धि से जो चारित्रिक शिथिलता आती है, वह अभावजनित परिस्थितियों से अधिक गंभीर होती है। उसका निवारण त्याग-भावना का विकास होने से ही संभव है।

यह पहली भूल होगी, यदि हम अवांछनीय समस्या की रट ही लगाते जाएं, किंतु उसे सुलझाने का कोई प्रयत्न ही न करें। दूसरी भूल यह होगी कि हम परिणाम को मिटाना चाहें, पर कारण की ओर गौर ही नहीं करें। वर्तमान में भ्रष्टाचार बहुत बढ़ गया है, यह आवाज बड़ी प्रबल है, पर उसे मिटाने का प्रयत्न उतना प्रबल नहीं है। भ्रष्टाचार एक परिणाम है। वह तब तक मिट कैसे सकता है, जब तक उसके कारण विद्यमान रहें।

हमें उस कुत्ते के समान अदूरदर्शी नहीं होना चाहिए जो उसे मारने के लिए फेंके गए पत्थर को ही चाटने लग्र जाता है। हमें उस शेर के समान दूरदर्शी होना चाहिए जो गोली में उलझे बिना उसे चलाने वाले की ओर छलांग भरता है। भ्रष्टाचार के कारणों को मिटाने का यत्न किया जाए तो वह अपने आप मिट जाएगा। भ्रष्टाचार के कारण अनगिनत हैं। संक्षेप में कुछेक ये हैं— 1. अनुशासनहीनता। 2. जीवन के झूठे मान-दंड और झूठी मान्यताएं। 3. धन-लोलुपता। 4. सत्ता या पद की लोलुपता। 5. सामुदायिक जीवन के प्रति निष्ठा का अभाव। 6. राष्ट्र-प्रेम का अभाव। 7. नैतिक-शिक्षा का अभाव। 8. प्रशासन-कौशल का अभाव। 9. सामाजिक रूढ़ियां। 10. गरीबी। 11. महंगाई। 12. अपव्यय-फिजूलखर्च। 13. स्व-नियंत्रण। 14. दलगत *राजनीति। 15. अधिकारियों की नियुक्ति में बरती जाने* वाली पक्षपातपूर्ण नीति।

इन सब के सुधार का मूल बीज अनुशासन है। जो लोग आध्यात्मिक मूल्यों में विश्वास करते हैं, वे तो आत्मानुशासन को मूल्य देते ही हैं, वे लोग भी उसे मूल्य देते हैं जो केवल सामाजिक जीवन के मूल्यों में ही विश्वास करते हैं।

आत्मानुशासन के अभाव में समाज या राज्य का अनुशासन चलता है तो अनुशासन चलाने वाले स्वयं ही अनुशासनहीन बन जाते हैं। तब जनता भी अनुशासनहीन बन जाती है। बाहरी अनुशासन भय के आधार पर चलता है। ठीक इसी प्रकार जब अनुशासक जनता से भय खाते हैं तो जनता उनसे भय खाती है और जब वे जनता के भय से मुक्त हो जाते हैं तो जनता भी उनके भय से मुक्त हो जाती है। बुराई में जब दोनों की साझेदारी हो जाती है, तब दोनों एक-दूसरे के प्रति निर्भय हो जाते हैं।

व्यवस्था-भंग से भी अनुशासन में शिथिलता आती है। व्यवस्था-भंग का एक कारण है अकर्मण्यता और दूसरा कारण है पक्षपात। कौटुंबिक, जाति, प्रांत, मित्र आदि संबंधों की भावना मन में गहरी होती है, तब व्यवस्था गौण हो जाती है और निजी संबंध प्रधान हो जाते हैं। फिर हर काम में पक्षपात होता है। उससे अनुशासन शिथिल हो जाता है।

पद-लोलुपता भी अनुशासन की शिथिलता का बहुत बड़ा हेतु है। लोकतंत्र में सत्ता उन्हीं को वरण करती है, जिन्हें अधिक समर्थन प्राप्त होता है। सत्तारूढ़ व्यक्ति अपने समर्थकों को संरक्षण न दें तो उनकी स्थिति दुर्बल हो जाती है। उनके सामने औचित्य-अनौचित्य की अपेक्षा उनके संरक्षण का प्रश्न मुख्य बन जाता है। दलगत राजनीति की यह अपरिहार्य दुर्बलता है। दल के चुनाव में अनेक अनियमितताएं बरतनी पड़ती हैं। बहुत सारे अच्छे लोग उन्हें पसंद भी नहीं करते। पर जहां पार्टी का प्रश्न है, वहां उनसे वे बच भी नहीं सकते। इस प्रकार अनुशासनहीनता निर्वाचन के समय ही क्षम्य हो जाती है।

भ्रष्टाचार की जड़ें जितनी मानसिक वृत्तियों में फैली हुई हैं, उतनी आवश्यकताओं में नहीं हैं। ये वृत्तियां हर सामान्य व्यक्ति में होती हैं।

ये मनोवृत्तियां ही सामाजिक जीवन में प्रतिबिंबित होती हैं। कर्तव्य और कार्य में जो विसंगतियां होती हैं, उनका यही मुख्य हेतु है। समाज हर व्यक्ति को इतनी स्वतंत्रता दे कि वह अपनी मनोवृत्तियों के अनुसार कार्य करे तो उसमें

असामाजिकता के बढ़ने का खतरा है। केवल बाहरी नियंत्रण से उनके सहज झुकाव को रोकना भी खतरे से खाली नहीं है। वैचारिक विकास और नियंत्रण की संतुलित स्थिति में ही कुछ समाधान दिखाई देता है।

—काम करना छुटपन है और न करना बड़प्पन।

—बड़ा आदमी वह है जो अधिक धनी है या अधिकार संपन्न है।

उपरोक्त मान्यताओं के आधार पर लाखों आदमी कठिनाई भुगत लेंगे, पर कोई काम नहीं करेंगे या अमुक-अमुक काम नहीं करेंगे।

बड़ा बने रहने के लिए अनेक लोग धन का अनावश्यक व्यय करते हैं और सत्ता का झूठा प्रदर्शन भी करते हैं। जो लोग राजाओं को फिजूलखर्ची के लिए बदनाम करते थे, वे स्वयं सत्तारूढ़ होने के बाद फिजूलखर्ची में राजाओं से कम नहीं हैं। क्या जनता के सामान्य स्तर से असाधारणतम स्तर रखने वाले जनता के प्रतिनिधि हो सकते हैं?

सत्ता और पद के प्रति जो आकर्षण है, वह वास्तविक काम करने की भावना से शायद उतना नहीं है जितना बड़ा बनने की मनोवृत्ति की पूर्ति के लिए है। सत्तारूढ़ व्यक्तियों को जो सुविधाएं प्राप्त हैं, वे न हों तो भी संभव है कि सत्ता के प्रति आकर्षण कम हो जाए।

धन के प्रति जनता का आकर्षण इसलिए नहीं है कि वह उसके काम की वस्तु है। जो काम की वस्तुएं हैं, वे धन के द्वारा ही प्राप्त होती हैं, इसलिए उसके प्रति आकर्षण है। यदि धन के द्वारा वस्तुएं न मिलें तो उसका वही मूल्य हो जाए जो बालू का है। मनुष्य-मनुष्य में समानता की अनुभूति तब तक तीव्र नहीं होगी, जब तक धन के सामने मनुष्य का मूल्य बढ़ेगा नहीं। धनी लोगों को इसका अनुभव भी नहीं कि मनुष्य का भी कोई मूल्य है। जो लोग धनी लोगों को महज इसलिए सम्मान देते हैं कि उनके पास धन है, तो वे संग्रह को प्रोत्साहन देते हैं। इससे येन-केन-प्रकारेण धन कमाने की वृत्ति को ही बढ़ावा मिलता है।

सामाजिकता वहीं स्वस्थ हो सकती है, जहां सामुदायिक जीवन के प्रति निष्ठा हो। वैयक्तिक स्वतंत्रता का बहुत महत्त्व है, पर वैयक्तिक स्वार्थ-साधनों का स्थान बहुत नीचा होना चाहिए। वैयक्तिकता केवल धर्म की साधना के लिए ही उपयुक्त है। लगता है, इस क्षेत्र में उलटी गंगा बह रही है। आत्म-साधना के क्षेत्र में वैयक्तिकता होनी चाहिए, वहां सामुदायिकता हो रही है। वहां आदमी सोचता है कि जब सब लोग सदाचार का पालन नहीं करते, तब मैं अकेला ही क्यों करूं? समाज के क्षेत्र में जहां सामुदायिकता होनी चाहिए, वहां व्यक्ति का चिंतन यह होता है कि मैं दूसरों की—किन-किन की चिंता करूं, मुझे अपनी रोटी पका लेनी चाहिए।

भ्रष्टाचार के कारण बहुत स्पष्ट हैं। उन पर लंबी-चौड़ी मीमांसा की आवश्यकता नहीं है। सदाचार के आधार विकसित होंगे तो भ्रष्टाचार अपने-आप मिट जाएगा।

एक धार्मिक आदमी सोचता है, मुझे ऐसा कोई भी काम नहीं करना चाहिए, जिससे मेरी आत्मा का पतन हो। यह सदाचार का धार्मिक आधार है। एक आदमी सोचता है—मुझे ऐसा कोई भी काम नहीं करना चाहिए जिससे मेरे राष्ट्र की क्षति हो, यह सदाचार का राष्ट्रीय आधार है। इन दोनों के मूल्य भिन्न-भिन्न हैं फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि इनके विकास से भ्रष्टाचार की जड़ें खोखली होंगी।

अनुशासनहीनता और जीवन के झूठे मानदंडों और झूठी मान्यताओं के परिवर्तन का दायित्व शिक्षा-संस्थान लें तो अनेक समस्याओं का स्थाई समाधान हो जाए। आत्म-जागरण के अभाव में ही सत्ता, पद और धन को अधिक मूल्य दिया जाता है। यह काम धार्मिक और मनोवैज्ञानिक संस्थानों का है कि वे जनता की हीन-भावना को नष्ट करने के लिए उपयुक्त वातावरण पैदा करें।

अणुव्रत-आंदोलन व उसके जैसे दूसरे नैतिक-आंदोलन नैतिक शिक्षण देने व सामाजिक कुरीतियों को मिटाने के काम में वेग लाएं। केंद्रीय व राज्य सरकारें भी अपने दायित्व से मुक्त नहीं हो सकतीं। महंगाई, गरीबी, कानूनी उलझनें, 'कंट्रोल' आदि समस्याओं का निवारण उन्हीं का विषय है।

भ्रष्टाचार इतना व्यापक हो गया है कि वह किसी एक धक्के से गिरने वाला नहीं है। सब संस्थान तीव्रता से अनुभव करें कि यह स्थिति अवांछनीय है तभी सब ओर से सामूहिक प्रयत्न हो सकते हैं। आज के चरित्रनिष्ठ लोग इसी प्रतीक्षा में हैं कि ऐसा हो और तत्परता से हो। ❖

'मैं' एक बड़ा पत्थर है। उसका भार भयंकर होता है। जिस ओर 'मैं' को रखो, उसी ओर धीरे-धीरे सब झुक जाता है। अगर बचना हो तो इसे पानी में एकदम फेंक सको तो बहुत अच्छा।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

डॉ. बच्छराज दूगड़

एक उद्दाम अनुसंधित्सु

□□

युवाचार्य
मनोनयन दिवस

व्यक्ति इतने आवरण ओढ़े रहता है कि उसके यथार्थ रूप को देख पाना आसान नहीं होता। आचार्यश्री तुलसी और आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की क्रांत दृष्टि ने मुनि मुदित के भीतर छिपी हुई उज्ज्वलता को देखा और भावी उत्तराधिकारी के रूप में जब उनका नाम सामने आया तो जनसमूह के चेहरे पर संतोष मिश्रित उल्लास उभरता हुआ नजर आया। चतुर्विध धर्मसंघ का एक स्वर में हृदय से अनुमोदन तभी संभव है, जब वह व्यक्ति अजातशत्रु हो। अजातशत्रुता दिखावटी व्यवहार से हर्जनीय नहीं है, इसके लिए अहिंसा में प्रतिष्ठिती आवश्यक है। 'अहिंसायां प्रतिष्ठायां वैर त्यागः'—पातंजलि का यह सूत्र युवाचार्यश्री महाश्रमण में घटित होता हुआ लक्षित होता है।

'आचार्य भिक्षु ने अपने परम विनीत शिष्य भारमलजी से एक दिन कहा—'यदि किसी ने तुम्हारी गलती बताई तो तुम्हें प्रायश्चित्त स्वरूप तेला करना होगा।' मैं महाश्रमण के लिए उस प्रकार तेला करने की बात तो नहीं कहता, किंतु एक बात अवश्य कहना चाहता हूं—आज सुविधावाद का युग है। साधु-समाज पर भी उसका प्रभाव पड़ने लगा है। इस स्थिति को देखते हुए मैं महाश्रमण पर एक प्रयोग करना चाहता हूं। महाश्रमण! यदि तुम्हारे बारे में ऐसी कोई शिकायत आई कि मुनि मुदित सुविधावादी बन रहे हैं या तुम्हारी कोई सुविधावादी प्रवृत्ति मेरे स्वयं के ध्यान में आई तो तुम्हें प्रायश्चित्त स्वरूप तीन दिनों तक तीन-तीन घंटे खड़े-खड़े ध्यान करना होगा।' —आचार्यश्री तुलसी द्वारा यह एक कठिन अनुशासनात्मक प्रयोग उस व्यक्तित्व के लिए था जिसे भविष्य में भारमलजी के समान ही तेरापंथ धर्मसंघ की बागडोर संभालनी थी। 'महाश्रमण' पद पर मनोनीत करते हुए आचार्यश्री तुलसी ने मुनि मुदित के सरलमना, ऋजु, विनम्र और विद्याप्रेमी गुणों का जिक्र कर भविष्य की ओर इंगित करते हुए कहा था—'इसमें वे सभी गुण हैं जो एक अच्छे व्यवस्थापक में होने आवश्यक हैं।' इसी की पुष्टि आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने महाश्रमण मुनि मुदित को युवाचार्य पद देते हुए इन शब्दों में की थी—'आज मैं सचमुच निश्चिंत हो गया हूं।'

राजस्थान के एक कस्बे सरदारशहर में 13 मई, 1962 को जन्मे 'मोहन' ने भाद्रपद शुक्ला द्वादशी संवत 2054 (14 सितंबर 1997) को गंगाशहर में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी को निश्चिंत कर देने की सफल यात्रा की। इस यात्रा में उनका जो व्यक्तित्व उभर कर आया वह विमर्शनीय ही नहीं, अनुकरणीय भी है।

युवाचार्य महाश्रमण सत्य के अन्वेषक हैं। वस्तुतः एक धर्मसंघ के महत्त्वपूर्ण दायित्व का भार जिसके कंधे पर हो, उसकी सबसे बड़ी संपदा सत्य ही होती है। सत्यान्वेषक के लिए पहली शर्त है—उद्दाम अनुसंधित्सा। जहां यह भाव आ जाता है कि सत्य को जान लिया, वहां सत्य स्थिर पानी की तरह सड़ने लगता है। किंतु जहां यह उत्कट अभिलाषा बनी रहती है कि सत्य को जानना है, वहां सत्य बहते पानी की तरह निर्मल बना रहता है। युवाचार्यश्री महाश्रमण ऐसे ही जिज्ञासु हैं। उनकी जिज्ञासुवृत्ति सहज सामने आती रही है। उनके ज्ञान की गंभीरता का रहस्य भी यही है। विषय की स्पष्टता के बिना तथा बिना ग्राह्य बनाए उसे स्वीकार करना उन्हें कभी काम्य नहीं रहा है। जिज्ञासा में उन्हें न कोई संकोच है और न वे अपनी जिज्ञासाओं की इतिश्री करते हैं। स्वाध्याय, प्रश्न-प्रतिप्रश्न, श्रवण और मनन द्वारा निरंतर परत-दर-परत वे सत्य को अनावृत करते रहते हैं।

ज्ञान प्राप्ति के लिए दो साधनों का उपयोग होता रहा है—पहला तर्क और दूसरा श्रद्धा। तर्क तो प्रमाण के रूप में प्रमेयों को जानने का साधन है ही। गीता के अनुसार श्रद्धा भी ज्ञान प्राप्ति का साधन है—'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्'। जैन दर्शन में ज्ञान का क्रम श्रद्धा के बाद ही है। श्रद्धा और तर्क प्रायः परस्पर विरोधी समझे जाते हैं, पर वस्तुतः वे एक-दूसरे के पूरक हैं। जो श्रद्धा तर्क द्वारा समर्थित न हो, वह श्रद्धा पुष्ट नहीं कही जा सकती। जैन दर्शन और महावीर

वार्णी में युवाचार्यश्री महाश्रमण की आस्था अविचल है, फिर भी जैन धर्म की किसी मान्यता को तर्क की कसौटी पर कसे बिना मानने को वे तैयार नहीं हैं। महावीर-वाणी में अटूट श्रद्धा होते हुए भी वे आगम वाणी को तर्क की कसौटी पर कसते रहते हैं। उनका यही एक गुण उन्हें सच्चे दार्शनिक के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए पर्याप्त है। उनकी इस तर्क आधारित श्रद्धा का परिणाम यह होता है कि नित-प्रतिदिन आगम के नए-नए अर्थ व्यंजित होते रहते हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के साथ आगम-मंथन में उनके प्रश्न-प्रतिप्रश्नों की शृंखला तब तक चलती रहती है जब तक आगम का मर्म उनकी पकड़ में न आ जाए। दर्शनशास्त्र में तो कहा ही जाता है कि उत्तर ढूंढ़ने से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है—प्रश्न उठाना। प्रश्न उठाने की इस प्रक्रिया में युवाचार्य महाश्रमण का कोई सानी नहीं है।

प्रश्न उपस्थापित करना, विशेषकर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी जैसे गुरु के समक्ष; सरल कार्य नहीं है। एक ओर गुरुभक्ति है, दूसरी ओर तर्कसंगतता का प्रश्न। तर्कसंगतता पर इतना अधिक बल कभी-कभी शिष्य की श्रद्धा के विषय में संशय उत्पन्न कर सकता है। युवाचार्य महाश्रमण की विशेषता यह है कि वे प्रश्न पर प्रश्न उठाते हैं, किंतु उनकी श्रद्धा के विषय में संदेह का कोई अवकाश इसलिए नहीं होता क्योंकि उनके प्रश्न सरल जिज्ञासुवृत्ति से उत्पन्न होते हैं। उनमें न कहीं पांडित्य प्रदर्शन का लेश है और न दुराग्रह का अंश। केवल विशुद्ध सत्य का आग्रह है। उन्होंने अनेकांत को आत्मसात करके ही अपनी तर्कबुद्धि को श्रद्धा का परिपूरक बनाया है। तर्क द्वारा सत्य को जाना जाता है, किंतु एक तर्क से जिस सत्य को जानते हैं, प्रतितर्क द्वारा उस सत्य को काटा भी जा सकता है, इसीलिए तर्क को 'अप्रतिष्ठित' कहा गया है। सत्य को तर्क द्वारा जाना जाता है, किंतु सत्य पर स्थिर रहने की सामर्थ्य श्रद्धा ही प्रदान करती है। युवाचार्य महाश्रमण में इसे साक्षात् घटित होते देखा जा सकता है।

सत्य अथवा धर्म का ही दूसरा पर्याय ऋजुता है। स्वभाव में स्थित हुए बिना ऋजु नहीं बना जा सकता। युवाचार्यश्री महाश्रमण अपनी सरलता के कारण सहज ही जनता के विश्वास-भाजन बने हैं। उनकी सरलता, उनकी आध्यात्मिक ऊंचाई को प्रतिध्वनित करती है। युवाचार्यश्री महाश्रमण के साथ व्यवस्था पक्ष भी जुड़ा है। व्यवस्था में सरलता काम्य तो है, किंतु एक समस्या यह भी है कि सामान्य जन सरलता का उपयोग अपनी स्वार्थपूर्ति हेतु भी कर लेते हैं। अतः सरलता के साथ ऐसी सजगता भी आवश्यक है कि जिससे व्यक्तिगत स्वार्थपूर्ति के लिए उसका दुरुपयोग न हो। तेरापंथ धर्मसंघ अब छोटा संगठन नहीं रहा है। उसमें कार्य करने वाले व्यक्तियों की संख्या भी उत्तरोत्तर बढ़ रही है। ऐसे में अपनी पीड़ा अभिव्यक्त करने वालों की लंबी कतार सदा बनी रहती है तो युवाचार्यश्री महाश्रमण की करुणा का अजस्र स्रोत भी सदा बहता रहता है। ऐसी करुणा तभी संभव है जब वह सहज, स्वाभाविक एवं ऋजुता से उद्‌बुद्ध हो ? महाकवि कालिदास ने तप के प्रसंग में पार्वती के शरीर को स्वर्ण के कमल का बना हुआ कहा था, जो कमल की तरह कोमल होने पर भी स्वर्ण की तरह तेज से देदीप्यमान था। युवाचार्यश्री महाश्रमण का अंतस करुणा से आर्द्र होने के कारण कमल की तरह कोमल तो है ही, संयम मार्ग पर दृढ़ होने के कारण कंचन की तरह खरा भी है। संयम मार्ग में प्रमाद भाव का आक्रमण संभावित है। निरंतर जागरूकता ही इस आक्रमण से साधक को बचा सकती है। आचार्यश्री तुलसी और आचार्यश्री महाप्रज्ञजी से सतत जागरूकता का अवदान युवाचार्यश्री महाश्रमण में शत-प्रतिशत उतरा है, जो हमें तेरापंथ के भविष्य के प्रति आश्वस्त बनाता है।

व्यक्ति इतने आवरण ओढ़े रहता है कि उसके यथार्थ रूप को देख पाना आसान नहीं होता। आचार्यश्री तुलसी और आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की क्रांत दृष्टि ने मुनि मुदित के भीतर छिपी हुई उज्ज्वलता को देखा और भावी उत्तराधिकारी के रूप में जब उनका नाम सामने आया तो जनसमूह के चेहरे पर संतोष मिश्रित उल्लास उभरता हुआ नजर आया। चतुर्विध धर्मसंघ का एक स्वर में हृदय से अनुमोदन तभी संभव है, जब वह व्यक्ति अजातशत्रु हो। अजातशत्रुता दिखावटी व्यवहार से हर्जनीय नहीं है, इसके लिए अहिंसा में प्रतिष्ठिती आवश्यक है। 'अहिंसायां प्रतिष्ठायां वैर त्यागः'—पातंजलि का यह सूत्र युवाचार्यश्री महाश्रमण में घटित होता हुआ लक्षित होता है। युवाचार्य पद पर अभिषिक्त होने के अवसर पर संतोषमिश्रित उल्लास का जो भाव अभिव्यक्त हुआ, उसका श्रेय चतुर्विध संघ की शालीनता को दिया जाए अथवा आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के निर्वाचन कौशल को, अथवा महाश्रमण मुनि मुदित के व्यक्तित्व की गरिमा को, कहना कठिन होगा। तीनों ही घटक इस श्रेय के भागीदार हैं, किंतु उपादान तो 'मुनि मुदित' का स्वयं का व्यक्तित्व ही था।

भारतीय परंपरा में गुरु का स्थान सर्वोपरि है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी को जिस प्रकार आचार्यश्री तुलसी ने ढाला, उसी प्रकार आचार्यश्री महाप्रज्ञजी युवाचार्यश्री महाश्रमण को निरंतर गढ़ते रहते हैं। इसमें आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का पुरुषार्थ तो है ही, किंतु साथ ही युवाचार्यश्री महाश्रमण की गुरु से ज्ञान प्राप्ति की वैसी ही उत्कंठा है,

शेष पृष्ठ 48 पर

जैनेन्द्र कुमार

कहानी

❑

अपना-पराया

❑❑ .

तब की बात कहते हैं, जब रेल नहीं थी और घोड़ा ही सबसे तेज सवारी थी।

एक मुसाफिर सिपाहियाना पोशाक में सड़क के किनारे की एक सराय पर घोड़े से उतरा। उसने घोड़े को थपथपाया और अंदर दाखिल हुआ। वह बहुत दूर से आ रहा था और खूब थका हुआ था। वह चौबीस घंटे यहां रहेगा और चला जाएगा। उसे अभी दूर की मंजिल तय करनी है।

सराय में पहुंचकर उसने घोड़ा सराय वाले के हाथ में थमाया और चाहा, घोड़े के खाने वगैरह का ठीक बंदोबस्त हो जाए और उसके लिए एक आरामदेह कमरे का फौरन इंतजाम किया जाए। पैसा फिक्र करने की चीज नहीं है, लेकिन उसे आराम चाहिए।

घोड़े की व्यवस्था कर दी गई। उसके आराम और कमरे की व्यवस्था कर दी गई। उसने खाना खाया और पलंग पर लेट गया।

नींद उसे जल्दी आ गई और सपने में वह घर की बातें देखने लगा। उसकी पत्नी, जो पांच साल से विधवा की भांति रह रही है, उसके पहुंचने पर काम-काज में बहुत व्यस्त है, प्रेम-संभाषण के लिए तनिक भी अवकाश नहीं निकाल पाती। वह मानो उससे बची-बची काम कर रही है। वह नहीं बताना चाहता कि दो हजार रुपया उसकी कमर से बंधा है— दो हजार! वह समझना चाहता है और अपनी आंखों के आगे (कल्पना द्वारा) देख लेना चाहता है, किस प्रकार मेरे पीछे इसने दिन काटे? विपदा में इस बेचारी का साथ देने के समय वह और कहीं क्यों भटकता रहा? बे-पैसे, बे-आदमी, कैसे यह अपना काम चलाती रही होगी? —और साढ़े चार बरस का यह करनसींग, ओह! बिना किसी की मदद के दुनिया में कैसे आ पहुंचा होगा? वह अपनी पत्नी की सूरत बार-बार देखना चाहता है, लेकिन वह मौका नहीं लगने देती। ...यही करनसींग है? अरे, यह तो बड़ा हो गया। अपनी मां पर है। हां, करनसींग ही तो है। क्यों जी, आपका नाम करनसींग ही है? हम कौन हैं, बताइएगा? अपने बाप को जानते हैं? वह लड़ाई पर गया हुआ है। मैं उसी के पास से आ रहा हूं। वह आपको बहुत प्यार करता है। यह कहकर दोनों हाथ बढ़ाकर उसने बेटे को अपनी गोद में लेना चाहा।

तभी उसकी आंख खुल गई और उसने देखा, घर की मंजिल अभी दूर पड़ी है और वह अभी सराय के अजनबी कमरे में है। उसने माथा पोंछा और कमर में बंधी रुपयों की न्यौली संभाली। समय उसको भारी लगता था। उसने बातचीत के लिए सराय वाले को बुलाया और मालूम होने पर भी दुबारा मालूम किया कि पूरे दो रोज की मंजिल अभी और है। इधर के हाल-चाल मालूम किए और अपनी फौज की बहुत-सी बातें बताईं। उसने उस जिंदगी का स्वाद बताया जहां हर घड़ी मौत का अंदेशा है और जहां से बाल-बच्चे सैकड़ों कोसों दूर हैं,

इस आदमी को ऐसा लगा कि उसके हुक्म की अवहेलना हो रही है। वह अपने कमरे में टहलता हुआ, जो कहना-सुनना भटियारे और बच्चे की मां के बीच हुआ, सब सुन रहा था। उसके मन को आराम नहीं मिल रहा था। उसको बुरा मालूम हो रहा था कि क्यों वह इस गंदी परिस्थिति में पड़ गया? क्यों उसे जिद करनी चाहिए कि बच्चे को लेकर वह औरत ठीक इसी वक्त कोठरी से बाहर निकल जाए? लेकिन जब भटियारे ने उसके सामने आकर यह कहा कि उसे दया करनी चाहिए, तब मानो, अपने विरुद्ध होकर उसने जोर से कहा, 'तुमसे इतना नहीं होता और तुम अपने को मर्द समझते हो? चलो हटो।' और जोर से धरती को कुचलता हुआ वह उस ओर चला, जिधर से बच्चे की आवाज आ रही थी।

और छन बीतते अनंत दूर हो सकते हैं। है तो वह स्वाद, लेकिन बड़ा कड़वा स्वाद है। बताया कि किस भांति हम मारते हैं और किस भांति हम मरते हैं। उसने कहा कि मेरी समझ में नहीं आता, कैसे अपने सगे लोगों के खयाल से बचकर मरा जा सकता है। मरना कहीं खुशी की बात नहीं हो सकती। और यह अचरज है कि क्यों जिन्हें हम मारते हैं, उनके बारे में यह नहीं सोचते कि मरना उनके लिए भी वैसा ही मुश्किल है। हम मारकर खुश क्यों होते हैं? लेकिन फौज में यही बात है कि जिसे मारने से हम मामूली जिंदगी में डरते हैं, उसी मारने का नाम वहां बहादुरी हो जाता है। वहां आदमी जितने ज्यादा को मारता है, उतना ही अपने को कामयाब समझता है, और लोग इसके लिए उसे इनाम और प्रतिष्ठा देते हैं। बोला—

'मुझे इसमें खुशी नहीं मिली। पर जब लोग तारीफ करते थे; तब जरूर खुशी होती थी। और, आपस में जो एक होड़ का-सा भाव रहता था कि देखें, कौन ज्यादा दुश्मनों को मारता है, उस होड़ में जीतने की खुशी को भी खुशी कहा जा सकता है। असली मारने में तो दरअसल किसी तरह का स्वाद है नहीं।...और दुश्मन? मुझे नहीं मालूम, ये मेरे दुश्मन क्यों थे? जिन्हें मैंने मारा, मेरा उन्होंने क्या बिगाड़ा था? दुश्मन तो दुश्मन, मैं उन्हें जानता भी नहीं था। अब भी यह सोचने की बात मालूम होती है कि फिर वह क्यों तलवार खोलकर मेरी गर्दन काटने सीधा मेरी तरफ बढ़ा चला आता था और क्यों मैंने उसे अपनी तलवार की धार उतार दिया, जबकि हममें कोई तकरार न थी। कहीं-न-कहीं इस मामले में कुछ मालूम होता है। देखो, तुम हो, मैं हूं। तुम-हम दोनों पहले कभी नहीं मिले, फिर भी बैठे बात कर रहे हैं, और एक-दूसरे को कोई मारने नहीं आ रहा है। बल्कि एक-दूसरे के काम ही आ रहे हैं। तुम कहोगे, इस बात की हमें नौकरी मिलती है। लेकिन नौकरी मिलने से इतना हो सकता है कि हम मार दिया करें, उसमें एक जीत का और खुशी का और अपने फर्ज अदा करने का खयाल जो आ जाता है? वह कहां से आता है? सवाल है कि कहां से आता है? इसलिए कहीं कुछ भेद की बात जरूर है। कहीं कुछ फरेब है, कुछ ऐयारी। ...मेरा मन तो दो-तीन साल फौज में रहकर पका-सा गया है। अपने स्त्री-बच्चों के बीच रहें, जमीन में से कुछ उगाएं, हाथ के जोर से चीजों में कुछ अदल-बदल करें और थोड़े से सुख-चैन से रहें, तो क्या हरज है? मैं तो कभी से वहां से आने की सोचता था। करते-करते अब आना मिला है।'

सुनने वाला 'हां-हूं' करता हुआ सुन रहा था। वह जानता था, इस तरह चुपचाप बिना उकताहट जताए और बिना सुने बात सुनते रहने का उसे रुपया-धेली कुछ मिल ही जाएगा। बीच-बीच में वह योग भी देता था, 'हां सरकार, हां सरकार!'

फौजी कहता रहा, 'मैंने अपने बच्चे को देखा तक नहीं। मेरे पीछे क्या हुआ हो और क्या नहीं? घरवाली को अकेले ही सब भुगतना हुआ होगा। मैं जो लौट आया हूं, इसका क्या भरोसा था? छन में मर भी सकता था। क्यों भाई, क्या कहते हो?'

'हां, सरकार!'

'देखो, तुम भी यहां रहते हो। तुम्हें डर न झंझट। अपना काम है, अपना घर। घर से कोसों दूर तो भटकते नहीं फिरते। न किसी की चाकरी में हो। इसमें क्या मजा है कि घर का आराम छोड़कर दूर जाएं, मुलाजमत करें और उससे जो पैसे पावें उनके बल लौटकर पड़ोस पर नवाबी, ठसक जमावें। क्यों भाई, है न बात?'

वह पैसे से भी और वैसे भी भरा था और व्ययशील हो सकता था। आशा उसे उठाए थी और सामने बैठे इस निम्नवृत्ति जीव के सामने उसे अपने को बड़ा समझना और बड़ा दिखाना अच्छा लगता था। इस प्रकार अपने बड़प्पन में स्वस्थ होकर वह इस जीव के साथ भाई-चारा भी बिना खतरे के दिखा सकता था। उसने जेब से चवन्नी निकालकर सराय वाले को दी, 'लो, बाल-बच्चों को जलेबी खिलाना...। और देखो, घोड़ा सवेरे के लिए जीन कसकर तैयार रहे। पचास कोस की मंजिल है, हम जल्दी घर पहुंचना चाहते हैं।'

भटियारे ने जमीन की ओर सिर झुकाया। कहा, 'अच्छा सरकार!'

शाम होने पर जरा इधर-उधर घूमा, रात बुलाई और खाना खा-पीकर सोने की चेष्टा करने लगा। सोचता था—सवेरे ही उठकर गजरदम वह चल देगा।

जब रात सुनसान थी और वह गाढ़ी नींद सो रहा था। तभी एक व्याघात उपस्थित हुआ। पास ही कहीं से एक बच्चे के रोने की आवाज सुन पड़ी। उस बच्चे की मां उसे बहुत मनाती थी; पर वह मानता नहीं था। शायद भूखा हो या हठीला। कभी मां उसे झिड़कती थी, कभी पुचकारती थी। लेकिन बच्चा अच्छी तरह चुप नहीं हो रहा था।

बच्चे के लगातार रोने की आवाज उस सन्नाटे में उसे बेहद अशुभ मालूम हुई। जो पत्नी से मिलने का सुख-स्वप्न देख रहा था, वह उचट गया। यह बेमतलब का क्रंदन, बेराग, बे-स्वर, सन्नाटे को चीरकर आता हुआ उसके कानों को बहुत अप्रिय लगा। पहले तो उसने चाहा कि वह सह ले और सो जाए। पर नींद असंभव हो गई थी और वह राग रुकता न

था। आखिर झल्लाकर जोर की आवाज से उसने भटियारे को बुलाया। भटियारा डरता हुआ आया और उसने उससे पूछा, 'यह कैसा शोर है?'

'हुजूर, एक बच्चा है...।'

'बच्चा है तो बदशऊर चुप क्यों नहीं रहता?'

'हुजूर, बीमार होगा।'

'बीमार है तो उसके लिए यह जगह है? क्यों बीमार है?'

भटियारा चुप।

'साथ उसके मां है?'

'हां हुजूर, है। वे कल यहां से चले जाने को कहते हैं!'

'उससे कहो, बच्चे को चुप करे, नहीं तो हमारी नींद में खलल पड़ता है। चलो, जाओ।'

थोड़ी देर में भटियारे ने लौटकर बताया कि बच्चे की तबीयत खराब है और भूखा भी है। मैंने डांटकर कह दिया है। देखिए, जल्दी चुप हो जाएगा।

लेकिन बच्चे का रोना जारी रहा। बच्चा और उसकी मां कहीं पास ही की कोठरी में थे। यह भी सुन पड़ा कि उसकी मां ने बच्चे के दो-तीन चपत लगाए हैं। लेकिन इस पर बच्चे का चिल्लाना कुछ और प्रबल ही हो गया है।

'मर अभागे, तू मुझे और क्या-क्या दिखाएगा?' —सुन पड़ा, मां ने ऐसा कहा है और कहकर वह सिसकने लगी है।

सिपाही ने फिर नींद लेने की कोशिश की। पर बच्चे का चीखना उसी तरह जारी था। एक स्त्री की सिसक और एक बच्चे की चीख सिर पर आकर चलती ही रहे, तो क्या चैन आसान है? तो क्या उसको सहना सहज है? सो सिपाही की सहन-शक्ति की पराकाष्ठा जल्दी आ गई। फिर भटियारे को बुलाया, 'यह बदनसीब चीखना नहीं छोड़ेगा? उसे निकालो यहां से।'

'हुजूर, गरीब है। कुछ घंटों की बात है; सवेरा होते ही वह भी अपना रास्ता लेगी; हुजूर को भी तशरीफ ले जाना है।'

'नहीं-नहीं बीमारों के लिए यह जगह नहीं है। हम कहते हैं, उससे अभी कहो, निकल जाए, सोने ही नहीं देता।'

'हुजूर, इतनी रात को कहां जाएगी!'

'कहां जाएगी? क्यों सारी दुनिया तेरी सराय के ऊपर है? अस्तबल में रखो, कहीं रखो, जहां से शोर हमें बिलकुल न आए। समझे?'

सराय वाला इसको पैसे वाला जान नाखुश नहीं करना चाहता था। उसे प्राप्ति की करारी आशा थी। उसने बच्चे की मां के पास जाकर कहा, 'बराबर में एक फौज के सरदार ठहरे हैं। बच्चे के रोने से उनकी नींद में खलल पड़ता है। अगर बच्चा चुप नहीं हो सकता, तो उसे यहां से ले जाओ।'

स्त्री ने गिड़गिड़ाकर कहा, 'बच्चे की ऐसी हालत में मैं उसे और कहां ले जाऊं? जाड़ों के दिन हैं, 'आधी रात हो गई है। कुछ घंटे और ठहरो मालिक, तड़का होते ही मैं चली जाऊंगी।'

भटियारे ने कहा, 'नहीं, तुम अभी चली जाओ। नहीं तो वह खफा होंगे।'

स्त्री ने कहा, 'उन सरदारजी से हाथ जोड़कर कहो, मैं दुखिया हूं। थोड़ी देर के लिए और मेहरबानी करें। बच्चे के बाप का पता नहीं है। अब इसको कहां धकेल दूं? पौ फटते ही फौरन चल दूंगी।'

भटियारे के मन में न था कि यह जाए, पर सरकार की खफगी का उसे डर था।

उसने कहा, 'माई, किनारे का अस्तबल है, वह तुम्हें बताए देता हूं। रात वहीं काटो। तुम देखती नहीं हो, इससे मेरी रोजी पर खतरा आता है।'

इस पर उसने गोद से बच्चे को उठाकर दूर ढकेल दिया, कहा—'लो इसे ले जाके उनके पैरों में डाल दो, वह जूते से इसका ढेर कर दें। मैं फिर चली जाऊंगी।'

इतना कहकर वह दोनों हाथों में अपने सिर को लेकर धीरे-धीरे रोने लगी। इधर फर्श पर पड़ा बच्चा चीख रहा था। सराय वाला इस पर सहमा-सा रह गया। उसने लौट आकर कहा, 'हुजूर, कुछ घंटों की और बात है। आप उसे माफ कर दें। वह बहुत दुखिया मालूम होती है।'

इस आदमी को ऐसा लगा कि उसके हुक्म की अवहेलना हो रही है। वह अपने कमरे में टहलता हुआ, जो कहना-सुनना भटियारे और बच्चे की मां के बीच हुआ, सब सुन रहा था। उसके मन को आराम नहीं मिल रहा था। उसको बुरा मालूम हो रहा था कि क्यों वह इस गंदी परिस्थिति में पड़ गया? क्यों उसे जिद करनी चाहिए कि बच्चे को लेकर वह औरत ठीक इसी वक्त कोठरी से बाहर निकल जाए? लेकिन जब भटियारे ने उसके सामने आकर यह कहा कि उसे दया करनी चाहिए, तब मानो, अपने विरुद्ध होकर उसने जोर से कहा, 'तुमसे इतना नहीं होता और तुम अपने को मर्द समझते हो? चलो हटो।' और जोर से धरती को कुचलता हुआ वह उस ओर चला, जिधर से बच्चे की आवाज आ रही थी।

कोठरी में मद्धिम दीया जल रहा था और दोनों हाथों में माथा थामे एक औरत बैठी थी। पास नंगी धरती पर पड़ा हुआ बच्चा चिल्ला रहा था।

'अंदर कौन है?'

अंदर से कोई नहीं बोला।

इस व्यक्ति ने और जोर से कहा, 'हम कहते हैं, अंदर कौन है? क्या तू बहरी है?'

स्त्री जरा जोर से सिसकने लगी और चुप रही।

'देखो, तुमको इसी वक्त बच्चे को लेकर चले जाना होगा। बच्चा रोता है, तो चुप नहीं रख सकती, और कहते हैं तो मुंह से जवाब नहीं फूटता!'

स्त्री चुपचाप उठी, बच्चे को उठाया और बाहर आकर उस व्यक्ति के पैरों में बच्चे को डालकर उसने कहा, 'मैं चली जाती हूं। इस बच्चे को तुम ठोकर मारकर जहां चाहे फेंक दो।' और वह चलने लगी।

वह व्यक्ति जाने क्यों, एकदम सकते-से में पड़ गया। उसने कहा—'ठहरो-ठहरो। कहां जाती हो?'

स्त्री ने कहा, 'जहां मौत मिले, वहीं जाती हूं।'

व्यक्ति में एकदम परिवर्तन होने लगा। उसने पूछा, 'तो भी तुम कहां से आ रही हो और किधर जाती हो?'

स्त्री ने कहा, 'पांच बरस से इस बच्चे का बाप नहीं लौटा। वह लड़ाई पर गया है। कौन जाने, मर गया हो। कौन जाने शायद लौटते हुए मुझे रास्ते में ही मिल जाए। मैं उसी के पास बदनसीब बच्चे को ले जा रही हूं।'

पुरुष की आंखों में आंसू आ गए। उसने अपने बच्चे को अपने पैरों पर से उठा लिया। वह अपनी स्त्री से यह भी नहीं कह सका कि तुमने मुझे पहचाना नहीं। बच्चे को चूमा, पुचकारा और डोल-डालकर, गा-गाकर उसे मनाने लगा। ❖

समाज के नीति-निर्धारक लोग चाहे निंदा करें या प्रशंसा, धन-दौलत चाहे आए या जाए, जीवन चाहे अभी समाप्त हो जाए या युगों तक रहे, धीर पुरुष न्यायनीति के मार्ग पर निरंतर चलते जाते हैं।

सच्ची राह पर चलने वाला व्यक्ति समाज के आलोचकों या भ्रममूलक नियमों की उतनी परवाह नहीं करता जितना अंतरात्मा की। सामाजिक निंदा या स्तुति प्रायः पक्षपातपूर्ण होती है। किन्हीं मजबूरियों से बंधकर ही कोई व्यक्ति अनचाहे भी ऐसा काम करने को मजबूर हो जाता है जो न्यायसंगत नहीं होता। यह उचित नहीं। यश-अपयश की चिंता न करके भी मनुष्य को सत्य और न्याय के मार्ग पर चलना चाहिए।

सच्ची राह पर चलने वालों को धन का लोभ छोड़ना पड़ता है। आज के अर्थ-प्रधान युग में झूठ का ही बोलबाला है। व्यापार-व्यवसाय में होने के लिए झूठ का सहारा लेना पड़ता है। यह समाज का दुर्भाग्य है। आदर्श समाज की व्यवस्था में यह विवशता नहीं होनी चाहिए। आदर्श जीवन बिताने वाले को इस व्यवस्था से दूर रहना होगा।

आदर्श पुरुष वही है जो मृत्यु का स्वागत कर ले, किंतु सत्य और न्याय का मार्ग न छोड़े। संसार के सब पुण्यात्मा शहीद इसी मार्ग के अनुयाई थे। इन इने-गिने हुतात्माओं के बल पर ही संसार की व्यवस्था चल रही है। अन्यथा जगत के समस्त व्यवहारों पर अराजकता आ जाए। कहीं कोई नियम या विधान का अस्तित्व ही न रहे।

—भर्तृहरि

जगदीश गुप्त की कविताएं

आदिम एकांत

मुझे फिर मेरा गहन एकांत दो।

जहां वज्राघात का भूकंप-सा स्वर भी
एक तिनका टूटने से अधिक आभासित न हो।
जहां उल्कापात से संत्रस्त अंबर भी,
एक जुगनू के टिमकने से अधिक त्रासित न हो।
मुझे फिर मेरा वही एकांत दो।

हर जमे विश्वास की जड़ उखड़ने के साथ
मैं भी उखड़ता हूं
हर बिछड़ती आंख के संग तरल होकर
मैं स्वयं से बिछड़ता हूं।
मुझे फिर मेरा सहज एकांत दो।

दो वही आदिम, अचल एकांत
असह कोलाहल-कलह को बेधकर भी
छांह जिसकी तिक्त मन को परस जाती है,
जहां भी अस्तित्व झूठा जान पड़ता है,
वहीं उसकी याद आती है।

नया अर्थ

नया अर्थ
खोज-खोज हारा
अंधे मन के ढूहों में
मुरझाए स्वप्न के समूहों में,
गया व्यर्थ—
सारा श्रम।
लेकिन जब उलटा क्रम
देखा तलवासी आत्मा के उजियारे में...
कौंध उठा घर-बाहर;
तीखे कटु अनुभव के बाणों से
बिंध-बिंध कर
प्राणों से
—ज्यों निर्झर।
अपना पथ स्वयं खोज लेने में,
जीवन को नई शक्ति देने में,
पटु, समर्थ।

परंपरा

छुईमुई की भी क्या परंपरा
बाहरी प्रभाव की अंगुलियों ने—
धीरे से
जहां छुआ, वहीं मुई।

परंपरा बरगद की
शाखा से शाखा का अनुबंधन,
तूफानों में भी जो अडिग रहे
जिसकी जटिलता भी वंदनीय,
—धरती को छूते ही मूल हुई।

पानी गहरा है

पानी गहरा है पर थाह नहीं पाता हूं।
लहरों में अनचाहे लहर-लहर जाता हूं।

कोलाहल धूल-भरा तट कब का छोड़ चुका।
मन की दुर्बलताओं के बंधन तोड़ चुका।
पर जाने क्या है—
जब गहरे में चलने को होता हूं
ठहर-ठहर जाता हूं।
पानी गहरा है पर थाह नहीं पाता हूं।
झिलमिल जल की सतहों के बीच
सत्य दीख रहा
उसमें घुल जाने को
अपने ही पाने को
सांस-सांस तड़प रही, रोम-रोम चीख रहा।
माना यह तत्त्वों की, मिट्टी की, जल की है।
मन की तुलना में पर देह बहुत हलकी है।
इसको तट ही प्रिय है, चाह नहीं तल की है।
इसके निर्मम हलकेपन से ही बंधा-बंधा,
जल के आवर्तन में छहर-छहर जाता हूं।
पानी गहरा है, पर थाह नहीं पाता हूं। ❖❖

शीलन

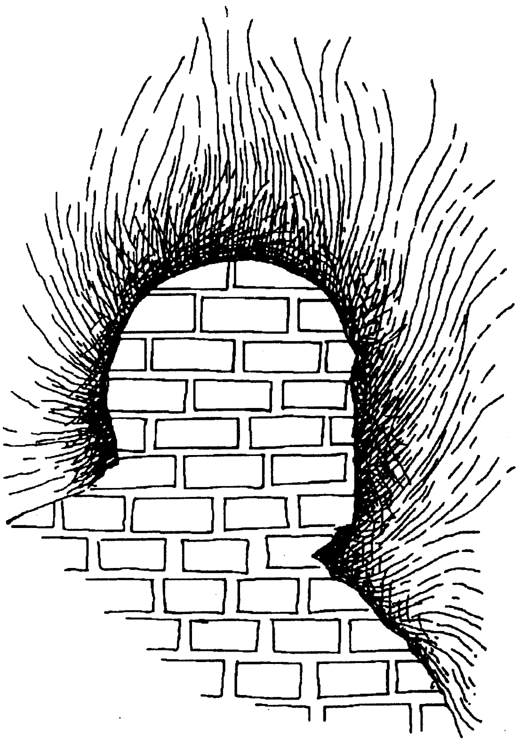

हे नाथ, मुझे उस लोक में जागृत करो, जहां सारे संसार के दुख को अपने ऊपर ले लेने के सुख में मत्त हुआ विचरूं। निखिल विश्व का ताप जहां मेरे रक्त की ऊष्मा बनाए रखे और अनंत विश्व-वेदना मेरे संगीत की सामग्री बने।

जहां एक मात्र तुम्ही मेरे संगी हो और सब प्राणियों की कामना मुझमें एकत्र होकर तुमसे प्रणय करने की शक्ति दे।

जहां भुवन का भुवन मेरा भवन हो और ससीम जीवन के बदले असीम जीवन पाकर मैं तुम्हारे साथ नित्य नई क्रीड़ा किया करूं।

—रायकृष्णदास

डॉ. भोगीलाल जे. सांडेसरा

तीर्थ और तीर्थंकर

❑❑

'तीर्थ' शब्द और इसके अर्थ से हम सब भलीभांति परिचित हैं। तीर्थयात्रा, तीर्थोदक और तीर्थक्षेत्र आदि शब्द किसने नहीं सुने? पर 'तीर्थ' शब्द जाना-पहचाना होते हुए भी इसका इतिहास और विविध अर्थ धर्म, संस्कृति और समाज —तीनों ही दृष्टियों से बहुत ही रसप्रद हैं।

संस्कृत में 'तीर्थ' शब्द के अनेक अर्थ हैं। 'तीर्थ' यानी नदी के प्रवाह में जहां सरलता-सहजता से पार उतरा जा सके ऐसा स्थान—घाट। अंग्रेजी में इसे 'फोर्ड' कहते हैं, जिससे 'ऑक्सफोर्ड' आदि शहरों के नाम पड़े हैं। प्रवाह में जहां से पार उतरा जा सके ऐसे स्थान पर स्नान भी किया जाता है, लोग उसे पवित्र गिनते हैं, इस कारण यह 'तीर्थ' कहलाता है। 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य के कर्ता भारवि राजनीति की विषमता को व्यक्त करते हुए कहते हैं :

विषमोऽपि विगाह्यते नयः।
कृत तीर्थः पयसामिवाशयः।।

'विषम जलाशय को जैसे तीर्थ अर्थात् घाट द्वारा पार किया जा सकता है उसी तरह विषम अर्थात् दुर्बोध नयनीति शास्त्र का अभ्यास द्वारा अवगाहन हो सकता है (सर्ग-2, श्लोक-3)।'

तीर्थ केवल स्थायी नहीं होता, जंगम भी होता है। पवित्र और पूज्य व्यक्ति 'तीर्थ' कहलाता है। प्राचीन पद्धति के हमारे पत्र-व्यवहार में बुजुर्ग-बड़े-पूज्य पुरुष के लिए 'तीर्थ-रूप' संज्ञक संबोधन किया जाता है।

'तीर्थ' यानी दान करने योग्य सुपात्र व्यक्ति। महाकवि कालिदास रचित 'रघुवंश' (सर्ग-5, श्लोक-15) में कौत्स मुनि के शिष्य वरतंतु रघु राजा के पास आकर कहते हैं :

शरीरमात्रेण नरेन्द्र तिष्ठन्नाभासि तीर्थ-प्रतिपादतर्द्धिः।
आरण्य की पात्त फल प्रसूतिः स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः।।

यहां 'तीर्थ' का अर्थ 'सुपात्र' है। यही अर्थ 'मनुस्मृति' में भी है :

दूरादेव परीक्षेत ब्राह्मणं वेदपारगम्।
तीर्थे तद्धव्यकव्यानां प्रदाने सोऽतिथिः स्मृतः। (अध्याय-3, श्लोक-133)

'वेद के पारगामी ब्राह्मण की दूर से ही परीक्षा करनी चाहिए। हव्य-कव्य के प्रदान के लिए वह तीर्थ सुपात्र हो उसे अतिथि कहा जाता है।'

गुरु अथवा अध्यापक को भी तीर्थ कहा जाता है। कालिदास के नाटक 'मालविकाग्निमित्र' में हरदत्त और गणदास नामक दो नाट्याचार्यों का संवाद है। इनमें से गणदास अग्निमित्र को कहते हैं :

देव श्रूयताम। मया तीर्थादभिनय विद्या शिक्षिता।
दत्तप्रयोगश्चास्मि। देवेन देव्या च परिग्रहीतः।।

हमारे चिर-परिचित इस 'तीर्थ' शब्द का जैन परंपरा में विशिष्ट अर्थ है। संस्कृत धातु जि का अर्थ होता है 'जीतना'। जिन महात्माओं ने अपने मन, वाणी और देह पर विजय प्राप्त करली है वे 'जिन' कहलाते हैं और इनके अनुयायी जैन। 'तीर्थ' अर्थात् 'आरा' या 'ओवारा', जहां से नदी अथवा नद को पार किया जा सके ऐसा पवित्र स्थान। जैन शासन इस संसाररूपी महानदी पार उतरने का तीर्थ अथवा आरा है। इसी से इसे बनाने वाले महात्मा 'तीर्थकर' अथवा 'तीर्थंकर' कहलाते हैं।

'देव! सुनिये। मैं तीर्थ-पूज्य अध्यापक के पास से अभिनय विद्या सीखा हूं; मैंने इसके प्रयोग किए हैं, देव और देवी ने मुझे आश्रय दिया है।'

पर प्राचीन भारतीय राज्यशास्त्र में 'तीर्थ' का विशिष्ट अर्थ है। राज्यशास्त्र में 'तीर्थ' यानी 'राज्य के सर्वोच्च अधिकारी'। सद्कथाओं द्वारा राजनीति के रहस्य समझाने वाले ग्रंथ 'पंचतंत्र' के तीसरे तंत्र 'काकोलूकीय' (श्लोक-68) में कहा है :

यस्तीर्थानि निजे पक्षे परपक्षे विशेषतः।
गुप्तैश्चारैर्नृपौ वेत्ति न स दुर्गतिमाप्नुयात।।

'जो राजा गुप्तचरों द्वारा स्वयं के पक्ष के और विशेषकर विरोधी पक्ष के तीर्थों को भलीभांति जानता है वह दुख की स्थिति को प्राप्त नहीं होता।'

पंचतंत्र के तीसरे 'काकोलूकीय' में कौओं के राजा मेघवर्ण और उल्लुओं के राजा अरिमर्दन के बीच विग्रह का वर्णन है, जिसमें आखिरकार उल्लुओं का नाश होता है। मेघवर्ण के परंपरागत पांच सचिवों में से स्थिरजीवि के साथ उनका संवाद चलता है। स्थिरजीवि वृद्ध होने के कारण मेघवर्ण उनके साथ सम्मानपूर्वक बात करते हैं और पूछते हैं कि 'तात! तीर्थ किसे कहा जाता है? और वे कितने होते हैं? गुप्तचर कैसे होते हैं? यह सब मुझे समझाइए।' तब स्थिरजीवि ने कहा, 'इस विषय में भगवान नारद ने युधिष्ठिर को कहा था कि शत्रुपक्ष में अठारह और स्वपक्ष में पंद्रह तीर्थ होते हैं, तीन-तीन गुप्तचरों द्वारा इन तीर्थों को जानना चाहिए। उन्हें जानने से स्वपक्ष और उसी तरह परपक्ष वश में हो आता है।'

फिर सचिव स्थिरजीवि राजा मेघवर्ण को 'तीर्थ' के विषय में अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं : 'इस शब्द का 'आयुक्त कर्मा' (जिन्हें राजकाज सौंपा गया है वे अधिकारी) अर्थ होता है। यदि वे धोखेबाज होंगे तो उनके स्वामी का नाश होगा; और उत्तम होंगे तो उनसे स्वामी की वृद्धि होगी। वे (परपक्ष के) 'तीर्थ' इसके अनुसार हैं : मंत्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, द्वारपाल, अंतर्वासिक—अंतःपुर का अधिकारी, प्रकाशक—धर्मोपदेशक, समाहर्ता—महसूल एकत्र करने वाला, संनिधाता—लोगों को राज सभा में दाखिल होने की अनुज्ञा देने वाला, प्रदेष्टा—मुख्य न्यायाधीश, ज्ञापक—लोगों की परिवेदनाएं सुनने वाला, साधनाध्यक्षं—सेना की टुकड़ियों का अध्यक्ष, गजाध्यक्ष—हस्ति दल का अधिपति, कोषाध्यक्ष, दुर्गपाल, कारापाल—अश्वों का अधिपति, सीमापाल—राज्य की सीमाओं की रक्षा करने वाला और राजा का मुख्य सेवक। इन्हें अपनी ओर मिला लेने से शत्रु तुरंत वश में हो जाता है। स्वपक्ष में भी देवी, राजमाता, कंचुकी, माली, शय्यापाल, गुप्तचर, ज्योतिषी, वैद्य, जल भरने वाला, तांबुल वाहक, आचार्य, अंगरक्षक, स्थानचिंतक—सेना के विभागों का नायक, छत्र संभालने वाला और वारांगना—ये सब तीर्थ हैं। इनके साथ वैर रखने से स्वपक्ष का नाश होता है। इसी प्रकार :

वैद्य सांवत्सरिकाचार्याः स्वपक्षेऽधिकृताश्चराः।
यथाहितुण्डिकोन्मत्ताः सर्वे जानन्ति शत्रुषुः।।

'स्वपक्ष में अधिकार प्रदत्त गुप्तचर, वैद्य, ज्योतिषी, आचार्य, गारुडि और उन्मत्त के वेश में शत्रुओं का समस्त भेद जान लेते हैं।'

इसी तरह :

कृत्वा तीर्थविदस्तीर्थैरन्तः प्रणिधयः पदम्।
विदांकुर्वन्तु महतस्तलं विद्विषदम्भसः।।

'जिस तरह तीर्थों—सीढ़ियों द्वारा कदम उठाकर या गिनकर पानी की गहराई जान ली जाती है उसी तरह अपने कार्य में कुशल गुप्तचर तीर्थों (शत्रु के आप्त अधिकारियों) द्वारा अंदर का भेद प्राप्त कर शत्रुरूपी गहरे जल का पैंदा जान लेना चाहिए।'

इसी तरह पंचतंत्र में राजनीति की दृष्टि से, तीर्थ विषयक विस्तृत चर्चा है। 'यस्यतीर्थानि निज पक्षे' यह श्लोक रामायण और महाभारत में है, और संभवतः वहीं से ही पंचतंत्र में लिया गया होगा।

स्वपक्ष और परपक्ष या शत्रुपक्ष का भेद किए बिना, तीर्थों की संख्या, सामान्यतः अट्ठारह बताई गई है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में (अधिकरण-1, अध्याय-12, श्लोक-22) कहा गया है :

एव शत्रौ च मित्रे च मध्यमे चावपेच्चरान।
उदासीने च तेषां च तीर्थेष्वष्टादशेष्वपि।।

'इस प्रकार शत्रु, मित्र, मध्यम और उदासीन राजा के पास तथा उनके अट्ठारह तीर्थों में भी गुप्तचर नियुक्त करने चाहिए।'

साम, दाम, दंड और भेद इन चतुर्विध राजनीति के आचरण से संबद्ध 'रघुवंश' में तीर्थ शब्द का स्पष्ट प्रयोग किया गया है। टीकाकार मल्लिनाथ ने इसका अर्थ मंत्री इत्यादि अट्ठारह—इस तरह समझाया है :

इति कमात् प्रयुंजानो राजनीतिं चतुर्विधाम्।
आतीर्थोदप्रतीघातं स तस्याः फलमानशे।।

(सर्ग-17, श्लोक-68)

इस तरह चतुर्विध राजनीति करते हुए अट्ठारह तीर्थों तक इसका अनविघ्न फल प्राप्त होता है।

महाभारत और रामायण के टीकाकारों ने, अर्थशास्त्रियों ने तथा पंचतंत्रकारों ने परपक्ष और स्वपक्ष के जिन तीर्थों, राज्य कर्मचारियों को गिनाया है उनमें कई अंतर हैं, पर राज्य के सर्वोच्च अधिकारी गिनने की जो परिपाटी हमारे राजनीतिशास्त्रों में थी उस पर तो इसके द्वारा अच्छा प्रकाश पड़ता है। समग्रतया देखने पर तीर्थों के कार्यक्षेत्र में समूचे राज्य का अर्थतंत्र और सैनिक संचालन समा जाता है, यह निर्विवाद है।

यों 'तीर्थ' का मूल अर्थ नदी या जलाशय के घाट जैसा भौतिक होते हुए भी इसका विकास धार्मिक और आध्यात्मिक स्वरूप में हुआ है। जिसके प्रभाव से हम तर जाएं अथवा हमारा उद्धार हो वही तीर्थ। ऐसा सर्वोत्तम तीर्थ तो ईश्वर है तथा उसकी शरण में जाने का साधन ही हमारी चित्तवृत्ति या मानस तीर्थ है। इसलिए शंकराचार्य ने कहा है :

उत्तमं मानसं तीर्थे यस्मिन् स्नात्वाऽमृतो भवेत।

अर्थात् जिसमें स्नान करने से मनुष्य अमर हो वह मानसतीर्थ उत्तम है। जिस प्रकार नदी या सरोवर के किनारे पर बैठ कर या उसमें अवगाहन करके शरीर शुद्धि के उपरांत तीर्थ यात्रा की कृतार्थता अनुभव की जाती है उसी तरह मानसतीर्थ में भावनामय स्नान और ज्ञानमय अवगाहन ही वस्तुतः तीर्थसेवन है।

माता, पिता, गुरु, संत, पूज्य व्यक्ति, ज्ञानी या स्वयं के मर्यादित क्षेत्र में भी उत्तम कर्तव्य निभाने वाला व्यक्ति विशेष जंगम तीर्थ है तो रमणीय उपवन, महान पुरुष जहां रहे या विचरे हों ऐसे स्थान तथा द्वारिका, काशी, गया आदि नगर स्थावर तीर्थ हैं। सामान्य पुरुष इसे ही तीर्थ के रूप में जानते हैं। कहा गया है :

तीर्थोदक च वह्निश्च नान्यतः शुद्धिमर्हतः।

'तीर्थोदक और अग्नि—ये दोनों अन्यत्र कहीं शुद्ध करने योग्य नहीं अर्थात् ये सर्वथा शुद्ध हैं।'

और इसी तरह संस्कृत में एक प्रसिद्ध सुभाषित है :

अन्यक्षेत्रे कृतं पापं तीर्थक्षेत्रे विनश्यति।
तीर्थक्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति।।

'अन्य क्षेत्र में किया हुआ पाप तीर्थक्षेत्र में नाश होता है; पर तीर्थक्षेत्र में किया हुआ पाप वज्रलेप बन जाता है।'

अधर्मियों के संसर्ग से तीर्थस्थान का महत्त्व घटता है। नैसर्गिक सौंदर्य से आप्लावित तीर्थों के दर्शन से स्थानांतरण का आनंद होता है, पर वृत्तियां अंतर्मुख और पवित्र हों तो ही आत्मशुद्धि होती है।

हमारे चिर-परिचित इस 'तीर्थ' शब्द का जैन परंपरा में विशिष्ट अर्थ है। संस्कृत धातु जि का अर्थ होता है 'जीतना'। जिन महात्माओं ने अपने मन, वाणी और देह पर विजय प्राप्त करली है वे 'जिन' कहलाते हैं और इनके अनुयायी जैन। 'तीर्थ' अर्थात् 'आरा' या 'ओवारा', जहां से नदी अथवा नद को पार किया जा सके ऐसा पवित्र स्थान। जैन शासन इस संसाररूपी महानदी पार उतरने का तीर्थ अथवा आरा है। इसी से इसे बनाने वाले महात्मा 'तीर्थकर' अथवा 'तीर्थंकर' कहलाते हैं। रत्नत्रय यानी सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य। संसार सागर पार उतरने के लिए तीर्थंकर प्रणीत रत्नत्रययुक्त धर्म को भी, लक्षणा से 'तीर्थ' कहा जाता है तथा साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका को चतुर्विध समुदाय अथवा चतुर्विध संघ; इन्हें तीर्थ कहा जाता है। वस्तुतः ये सचेतन अथवा जंगम तीर्थ हैं।

सद्धर्म के प्रकाश के फलस्वरूप अज्ञान और अधर्म को दूर करने के लिए कल्प-कल्प में तीर्थंकर जन्म लेते हैं।

माता के गर्भ में वे आते हैं तब तीर्थंकर की माताएं शुभ स्वप्न देखती हैं। तीर्थंकरों के अवतार उसी तरह जन्माभिषेक के प्रसंग पर और उसी तरह दीक्षा, कैवल्य ज्ञानप्राप्ति और निर्वाण के समय भी इन्द्रादि देव उन्हें वंदन करने तथा महोत्सव मनाने के लिए आते हैं, ऐसी मान्यता है। यह पंचकल्याणक रूप अर्हा अथवा पूजा प्राप्त होने से तीर्थंकर अर्हत के रूप में भी पहचाने जाते हैं। पंच परमेष्ठि को नमस्कार करते नमस्कार मंत्र—नवकार मंत्र में 'णमो अरिहंताणं' इस तरह 'अर्हत' अथवा 'अरिहंत' को प्रथम स्थान दिया गया है।

जैन धर्म के इस कल्प में चौबीस तीर्थंकर हुए हैं' जिनमें प्रथम ऋषभदेव अथवा आदिनाथ और अंतिम महावीर स्वामी। ब्राह्मण धर्म में भी ऋषभदेव को विष्णु के चौबीस अवतारों में से एक माना गया है। उनका चरित्र श्रीमद्भागवत के पांचवें स्कंध में आता है। वहां उन्हें श्रमण ऋषि कहा गया है तथा उनके वैराग्य और परमहंस वृत्ति की अतीव प्रशंसा की गई है। पांचवें स्कंध के छट्ठे अध्याय के अंत में उनका चरित्र समाप्त होता है, वहां परम कवित्वमय शब्दों में उनकी स्तुति की गई है :

नित्यानुभूत निज लाभ निवृत्त तृष्णः
श्रेयस्य तद्रचनया चिरसुप्त बुद्धेः।
लोकस्य यः करुणयाऽभयमात्मलोक-
माख्यान्नमो भगवते ऋषभाय तस्मै।।

'नित्य अनुभव किए हुए स्व-स्वरूप के लाभ से जो तृष्णारहित थे, फिर भी चिरकाल से सुप्त-मूढ़ बुद्धि वाले लोगों को, श्रेय की रचना से, निर्भय आत्म प्रकाश का जिन्होंने करुणा से उपदेश दिया उन भगवान ऋषभदेव को नमस्कार!'

आद्य तीर्थंकर आदिनाथ नाभिनाथ और मरुदेवी के पुत्र थे। उनके विषय में जैन शास्त्र कहते हैं कि उन्होंने उस समय के मनुष्यों को पढ़ना-लिखना सिखाया, पाक शास्त्र सिखाया और विवाह-संस्था दृढ़ता से स्थापित की। 'णमो बंमीए लिवीए' ('ब्राह्मी लिपि को नमस्कार!') ऐसा उल्लेख जैन शास्त्रों में अनेक स्थानों पर आता है वह ऋषभनाथ ने लोक कला प्रचलित इसी मान्यता को अनुलक्ष्य करके कहा है। ऋषभदेव की दो पुत्रियों में से एक का नाम ब्राह्मी था; यह भी इस दृष्टि का सूचक है। ऋषभदेव ने अधिक उम्र हो जाने पर पुत्रों को राज्य सौंपा, तपस्या में लीन हुए और आत्मा का स्वरूप पहचान कर कैवल्य ज्ञान अथवा सर्वज्ञता की परम कोटि में पहुंचे।

तीर्थंकर अपायागम आदि अतिशयोक्ति के अधिकारी होते हैं। 'अतिशय' अर्थात् आश्चर्य! अपायागम अतिशय यानी तीर्थंकर को किसी भी प्रकार का क्लेश आकुल-व्याकुल नहीं कर सकता। ज्ञानातिशय अर्थात् संसार के समस्त कार्य-व्यापार उनके ज्ञान में प्रतिफलित होते हैं। पूजातिशय अर्थात् त्रिभुवन के जीव, मनुष्य, तिर्यंच और देव उन्हें पूजते हैं। वचनातिशय अर्थात् तीर्थंकरों का उपदेश सबको रुचता है, सबकी समझ में आता है और सबका कल्याण करने वाला होता है।

तीर्थंकर का उपदेश सुनने की प्राणीमात्र को व्यग्रता रहती है। उनकी उपदेश सभा 'समवसरण' के रूप में पहचानी जाती है। समवसरण में मनुष्य, देव और तिर्यंच भी आते हैं और तीर्थंकर की मधुर वाणी सबको अपनी-अपनी भाषा में समझ में आती है। तीर्थंकर का वचनातिशय यही है। जैन धर्म में प्रारंभ में महत्त्व विद्वानों की भाषा संस्कृत का नहीं, पर लोक भाषा का था। लोक भाषा तो देश विशेष में भिन्न होती है। इस कारण, लोगों को धर्मोपदेश वे समझें ऐसी भाषा में मिलना चाहिए यह सिद्धांत इससे प्रतिफलित होता है। बाद के समय में सिद्धसेन दिवाकर नामक महान दार्शनिक आचार्य, जो पूर्वाश्रम में ब्राह्मण पंडित थे, उन्होंने प्राकृत भाषा में रचे हुए जैन आगमों का संस्कृत में अनुवाद करने का उपक्रम किया था। इस कार्य को संपन्न करने के लिए जैन संघ ने उन्हें वर्षों तक गुप्तवास में रहने की व्यवस्था की थी, यह अनुश्रुति है। यह भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

ईसा की नौवीं शताब्दी में हुए जैन आचार्य मानतुंग सूरि ने आदिनाथ की स्तुति के रूप में वसंततिलका छंद में 'भक्तामर स्तोत्र' रचा है। 'भक्तामर प्रणत मौलि मणि प्रभाणाम' पंक्ति से उसका प्रारंभ होने के कारण वह 'भक्तामर स्तोत्र' के रूप में जाना जाता है। जैन धर्म और समाज में सर्वाधिक लोकप्रिय स्तोत्रों में से यह एक है और परम प्रभावक गिना जाता है। इसमें से तीर्थंकर स्तुति के दो श्लोक (24-25) देखें :

त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमनन्तमाद्यं
ब्रह्माणमीश्वर मनन्तमनंग केतुम्।
योगीश्वरं विदितयोगम नेकमेकं
ज्ञान स्वरूप ममलं प्रवदन्ति सन्तः।।

'आप विभु, अव्यय, असंख्य, आद्य, अब्रह्मरूप, ईश्वर, अनंत, अनंगकेतु—कामदेव को नाश करने वाला, योगीश्वर, योगवेत्ता, अनेक होने पर भी एक ज्ञानस्वरूप और विमल—इस तरह सत्पुरुष वर्णन करते हैं।'

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित बुद्धिबोधात्
त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रय शंकरत्वात्
धातासि वीर शिवमार्ग विधेर्विधानात्
व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि।।

'देव भी जिनकी बुद्धि के बोध-उल्लास को पूजते हैं ऐसे बुद्ध आप ही हैं, तीनों भुवनों के शांतिदाता—कल्याण करने वाले होने से आप शंकर हैं; शिवमार्ग की विधि का विधान करने वाले विधाता अथवा ब्रह्मा भी, हे धीर! आप हैं; हे भगवन्! आप ही पुरुषोत्तम हैं यह सुव्यक्त है।' ❖

अनुवाद : **जेठमल**

एक उद्दाम....पृष्ठ 37 का शेष

जिस प्रकार स्वाति नक्षत्र के जल बिंदु को पीने की चातक की उत्कंठा होती है। युवाचार्यश्री महाश्रमण का यह सौभाग्य भी है कि उन्हें आचार्यश्री महाप्रज्ञजी जैसे साक्षातधर्मा पथप्रदर्शक प्राप्त हुए हैं। वे आधुनिक युग के नचिकेता हैं जो अनावृत सत्य को जानने के लिए सर्वस्व न्यौछावर कर गुरु-चरणों में तत्पर हैं। उनके व्यक्तित्व का लेखा-जोखा देना तो शायद ही संभव हो। और हां, अभी तो सूर्योदय हुआ है, दोपहर के प्रकाश का दर्शन अभी शेष है। भविष्य के गर्भ में छिपे इस देदीप्यमान व्यक्तित्व से तेरापंथ और जैन समाज ही नहीं, संपूर्ण मानवता को बड़ी आशाएं हैं। ❖

रामलाल वर्मा

वसुधा है अपना परिवार

❑❑

संसार के सभी प्राणी सुखी हों, यह कामना वह व्यक्ति और वह समाज कर सकता है, जो सारी वसुधा को अपना परिवार समझता है, जो उदार होता है और अपने-पराए की संकीर्ण सीमा को लांघकर प्राणीमात्र के सुख में सुखी और दुख में दुखी होता है। वह ईश्वर से सभी प्राणियों के नीरोग होने और सभी के कल्याण की कामना किया करता है, वह किसी को भी दुखी नहीं देखना चाहता। ऐसा प्राणी स्वर्ण के सुख को त्याज्य मानकर दुखों से संतप्त् मानवता के दुख दूर करने के लिए सतत प्रयत्नशील रहने की कामना किया करता है। सभी प्राणी सुखी हों, सभी नीरोग हों, सभी प्रसन्न रहें और कोई भी संसार में दुखी न हो। इस प्रकार की उदात्त विचारधारा भारतीय संस्कृति और जीवन-पद्धति की विशेषता रही है। इसी के फलस्वरूप विश्वभर में विचरण करते हुए भारतीय मनीषियों ने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का अमर जयघोष कर मानवमात्र को अपने-अपने चरित्र की शिक्षा प्रदान की थी।

इतिहास साक्षी है कि सभी प्राणियों के सुख की कामना करने वाले हमारे पूर्वजों ने कहीं भी राजनीतिक सत्ता की प्राप्ति का लक्ष्य रखकर आक्रमण नहीं किया। यदि कहीं संघर्ष की स्थिति आई भी तो लक्ष्य रहा सज्जनों का परित्राण और दुष्टों का विनाश। इसके अतिरिक्त जहां कहीं वे गए, वहां अपने सद्व्यवहार और ज्ञान के बल पर उन्होंने भाईचारे और भारतीय संस्कृति की पताका ही लहराई न कि सत्ता के मद में किसी पर आक्रमण किया। वृहत्तर भारत के देशों में आज भी भारतीय संस्कृति के गरिमामय अवशेष इस कथ्य के प्रमाण हैं। प्राणीमात्र के सुख की कामना से प्रेरित होकर ही तो भारत के राजा शिवि ने स्वर्ग और मोक्ष के आनंद को नकारते हुए कहा था कि वह दुख से संतप्त प्राणियों के कष्ट निवारण की कामना को ही जीवन में वरीयता देता है।

इतिहास साक्षी है कि सभी प्राणियों के सुख की कामना करने वाले हमारे पूर्वजों ने कहीं भी राजनीतिक सत्ता की प्राप्ति का लक्ष्य रखकर आक्रमण नहीं किया। यदि कहीं संघर्ष की स्थिति आई भी तो लक्ष्य रहा सज्जनों का परित्राण और दुष्टों का विनाश। इसके अतिरिक्त जहां कहीं वे गए, वहां अपने सद्व्यवहार और ज्ञान के बल पर उन्होंने भाईचारे और भारतीय संस्कृति की पताका ही लहराई न कि सत्ता के मद में किसी पर आक्रमण किया।

तमसा नदी के तट पर जब एक व्याध ने केलिरत क्रौंच मिथुन में से एक का तीर मारकर वध कर दिया तो आदि कवि का शोक श्लोक के रूप में फूट पड़ा। आश्रम में लौटे गुरु को साश्रु नेत्र देखा तो शिष्यों ने उनसे कारण जानना चाहा। उनका उत्तर था कि व्याध द्वारा मारे गए क्रौंच के शोक ने श्लोक को जन्म दिया है, और कोई कारण नहीं : 'शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोकोऽभवद् नान्यथा।'

यहां आदि कवि ने परदुखकातर होकर व्याध को शाप ही दे डाला।

हे बहेलिए! तुझे युगों तक रहने वाली प्रतिष्ठा कभी न मिले, क्योंकि तूने नदी तट पर क्रीड़ारत क्रौंच मिथुन में से एक का वध कर दिया है।

भारतीय संस्कृति में धर्म के दस लक्षणों में अहिंसा का भी समावेश है, जिसमें संसार के समस्त प्राणियों के प्रति दया करने का भाव अंतर्निहित है, यहां तो श्वान और चांडाल में समान दृष्टि रखने वाले को पंडित कहा गया है।

जैन धर्मावलंबियों ने संयम और प्राणीमात्र की हिंसा को रोकने का महान व्रत लेकर मनुष्य, पशु-पक्षी आदि के कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर मानवता को विनाश के मार्ग से बचाने का कठिनतम कार्य कर दिखाया। विश्व में शाकाहार आंदोलन भी उन्हीं की प्रेरणा का सुपरिणाम है, जिसकी ओर संपूर्ण विश्व अब आकर्षित होने लगा है। ❖

कुणाल श्रीवास्तव

बालकथा

❑

पांचवां चोर

❑❑

राजा विक्रमादित्य जैसा वीर था, वैसा ही दानी भी था। गुणी-विद्वानों को तो वह दान देता ही था, गरीबों को भी खूब दान दिया करता। जो भी उसके पास आता, झोली भरकर पाता। जिसकी जो इच्छा होती, पूरी करने में कोई कसर न छोड़ी जाती।

ऐसे राजा की प्रजा को भला क्योंकर दुख होगा? इसलिए नगर भर में सुख ही सुख था। लोग कमाते, खाते और सुख से अपना जीवन बिताते।

राजा विक्रमादित्य अपनी प्रजा को प्यार भी बहुत करता था। एक बार उसने सोचा—मेरी प्रजा वैसे तो मेरा बड़ा आदर-सम्मान करती है और मैं भी गरीबों को उनकी इच्छा के अनुसार दान देता ही रहता हूं, फिर भी हो सकता है कि मेरी प्रजा के सारे दुख दूर न होते हों। शायद संकोच के मारे कुछ लोग मुझे अपना दुख बताते ही न हों। इसलिए मुझे छिपकर प्रजा के सुख-दुख की जानकारी पानी चाहिए।

बस, सोचने भर की देर थी। राजा विक्रमादित्य ने तुरंत अपना भेष बदला—राजसी कपड़े उतारकर उसने फटे-पुराने कपड़े पहन लिए। किसी सिपाही-सवार को भी साथ नहीं लिया और चुपचाप महल से बाहर निकलकर वह पैदल ही नगर की ओर चल पड़ा।

संयोग की बात—जब विक्रमादित्य नगर में पहुंचा तो एक जगह पर उसे चार चोर खड़े दिखाई दिए। वे चारों घर से चोरी करने निकले थे और उस समय खड़े होकर आपस में सलाह-मशवरा कर रहे थे।

एक चोर ने पूछा, 'क्यों भाइयो! आज हमें किस घर में चोरी करने के लिए चलना चाहिए।' दूसरे चोर ने जवाब दिया, 'भाई, अगर शुभ समय विचारकर चोरी करने निकलोगे तब तो फिर चाहे जहां भी चोरी करने जाओगे, धन जरूर मिलेगा।' तीसरे चोर ने कहा, 'जब चोरी करने निकले ही हो तो फिर कैसा शुभ समय और कैसा अशुभ समय? जिस घर में मन करे, घुस जाओ।'

'और क्या!' चौथे चोर ने कहा, 'हिम्मत होनी चाहिए, बस! हिम्मत हो तो एक बार आदमी यमराज तक से भी टकरा सकता है। चलो, अब चोरी करने निकलो, आगे जो होगा, देखा जाएगा।'

राजा विक्रमादित्य पास ही छिपकर खड़ा-खड़ा चारों चोरों की सारी बातें सुन रहा था। सचमुच उसे बड़ा दुख हुआ। वह मन-ही-मन सोचने लगा—धिक्कार है

और कोई समय होता तो राजा विक्रमादित्य तुरंत इन चारों को अपने सिपाहियों से पकड़वा लेता। वह जितना दयालु था, उतना ही अनुशासन के बारे में कठोर भी था। चोरों को तो वैसे भी वह बहुत ही कड़ी सजा दिया करता था। उनके हाथ-पांव कटवाकर नगर के बाहर फेंकवा देने में भी नहीं हिचकिचाता था।

लेकिन इस समय तो राजा अपने को ही कोस रहा था। वह सोच रहा था—अगर मैं ठीक से प्रजा के सुख-दुख का खयाल करता तो प्रजा गरीब न होती। और जब प्रजा गरीब न होती तो चोरी क्यों करती! गलती मेरी ही है। प्रजा दुखी है, फिर भी मैं आंखें मूंदे पड़ा रहता हूं।

मेरे दान-धर्म को और धिक्कार है मेरे राजा होने को! अगर मेरे नगर की सारी प्रजा वास्तव में सुखी होती तो ये चारों चोर बनते ही क्यों? ये चारों जरूर गरीब हैं। पेट भरने का और कोई उपाय न देखकर ही तो चोरी करने निकले हैं!

और कोई समय होता तो राजा विक्रमादित्य तुरंत इन चारों को अपने सिपाहियों से पकड़वा लेता। वह जितना दयालु था, उतना ही अनुशासन के बारे में कठोर भी था। चोरों को तो वैसे भी वह बहुत ही कड़ी सजा दिया करता था। उनके हाथ-पांव कटवाकर नगर के बाहर फेंकवा देने में भी नहीं हिचकिचाता था।

लेकिन इस समय तो राजा अपने को ही कोस रहा था। वह सोच रहा था—अगर मैं ठीक से प्रजा के सुख-दुख का खयाल करता तो प्रजा गरीब न होती। और जब प्रजा गरीब न होती तो चोरी क्यों करती! गलती मेरी ही है। प्रजा दुखी है, फिर भी मैं आंखें मूंदे पड़ा रहता हूं।

आखिर उसने मन-ही-मन तय कर लिया—इन चारों को सजा देना ठीक नहीं है। इन्हें तो किसी तरह कुछ धन दिया जाना चाहिए, ताकि आगे के लिए ये चोरी करना छोड़ दें।

लेकिन धन इन्हें दिया कैसे जाए?

इसका भी राजा को एक बड़ा बढ़िया उपाय सूझ गया। उसने क्या किया कि तुरंत लपककर वह स्वयं भी चोरों के साथ हो लिया।

चोरों ने जब अपने साथ एक अजनबी को देखा तो वे घबड़ा गए। उन्होंने संदेह भरी आंखों से राजा विक्रमादित्य की ओर देखते हुए पूछा, 'तुम कहां जाओगे जी?'

राजा विक्रमादित्य ने साथ-साथ कदम मिलाते हुए कहा, 'जहां तुम जाओगे, मैं भी वहीं जा रहा हूं।'

अब तो चोर और भी घबड़ाए। उन्होंने डरते हुए पूछा, 'क्या मतलब? तुम कौन हो?'

राजा विक्रमादित्य ने हंसकर कहा, 'जो तुम हो, मैं भी वही हूं।'

चोरों ने जब यह सुना तो उनका डर खत्म हो गया। एक चोर ने तब साफ-साफ पूछा, 'यानी तुम भी चोर हो?'

'हां।' राजा विक्रमादित्य ने सिर हिला दिया। राजा विक्रमादित्य भेष तो बदले हुए था ही, सो चोर उसे पहचान नहीं पाए। उन्होंने तुरंत विश्वास कर लिया कि जरूर यह भी चोर ही है, नहीं तो इतनी रात को यहां अकेला क्या करने के लिए भटक रहा है! फिर भी उन्होंने परीक्षा लेने के लिए पूछा, 'तुम्हें चोरी करने में डर नहीं लगता? अगर पकड़ लिए गए तो जानते नहीं, राजा हाथ-पैर कटवाकर नगर के बाहर फेंकवा देगा!'

राजा विक्रमादित्य ने हंसकर कहा, 'जब चोरी करने निकला हूं तो डरने से कैसे काम चलेगा!'

'चोरी क्यों करते हो?' तीसरे चोर ने पूछा।

राजा विक्रमादित्य ने जवाब देने के बजाए उलटकर उसी से सवाल किया, 'तुम लोग क्यों करते हो?'

'हम लोग तो गरीब हैं।' चौथे चोर ने कहा, 'जब किसी भी तरह खाने का जुगाड़ नहीं कर पाते तो मजबूर होकर चोरी करते हैं।'

राजा विक्रमादित्य को उसकी बात से बड़ा दुख हुआ, पर वह चुप रह गया। इस समय वह राजा तो था नहीं जो कुछ कर पाता! वह तो खुद चोर बना हुआ था! कुछ देर सोचने के बाद उसने कहा, 'अजीब बात है! राजा तो इतना दान-पुण्य किया करता है, फिर भी उसकी प्रजा इतनी गरीब है कि चोरी करके उसे अपना पेट पालना पड़ता है। यह भी कोई बात हुई?'

चारों चोरों ने लापरवाही से कहा, 'तुम भी तो चोरी करते हो, इस बात का तुम्हीं जवाब दो न!'

'वही तो मैं भी कह रहा हूं।' राजा विक्रमादित्य ने सोचते हुए फिर पूछा, 'आखिर इसकी वजह क्या हो सकती है?'

'वजह मैं बताता हूं'...एक चोर ने कहा। राजा विक्रमादित्य ने चौंककर कहा, 'हां, हां बताओ!'

'वजह यह है कि राजा सिर्फ उन्हीं को दान देता है जो उसके यहां मांगने जाते हैं। लेकिन सारी प्रजा तो भिखमंगी है नहीं। अब हमें ही देखो—हम लोग अच्छे-भले तंदुरुस्त आदमी हैं। भला, राजा के यहां भीख क्यों मांगने जाएं? लेकिन जब कोई काम ही नहीं मिलता, तब हम और करें भी क्या? लाचार होकर हमें चोरी ही करनी पड़ती है।'

बात एकदम सच थी। राजा विक्रमादित्य को अपनी गलती मालूम हो गई। वह जान गया कि किसी एक आदमी को चाहे सोना-ही-सोना देकर लाद दिया जाए—उससे सारी प्रजा का भला तो होगा नहीं। सारी प्रजा का भला तो तभी होगा जब कुछ ऐसा किया जाए कि जिससे सबको करने के लिए कोई न कोई काम मिल जाए।

चोर की बात से राजा विक्रमादित्य बड़ा खुश हुआ। उसने सोचा—ऐसे लोगों को तो इनाम दिया जाना चाहिए। पर वह चुप ही रहा। वह जानता था कि अगर चोरों के सामने वह प्रकट हो गया तो चारों चोर राजा के डर से नगर ही छोड़कर भाग जाएंगे। कुछ ऐसा करना चाहिए कि...

'क्या सोचने लगे, भाई?' एकाएक चोरों ने टोक दिया।

राजा विक्रमादित्य ने जल्दी से बात बनाते हुए कहा, 'कुछ नहीं...हां, तो आज कहां चोरी करने का इरादा बनाया है?'

'तुम कहां चोरी करने चले थे?'

'मेरा क्या, जहां मौका देखता वहीं घुस जाता।' राजा विक्रमादित्य ने कहा, 'मैं अकेला आदमी ठहरा, किसी से राय-बात तो करनी नहीं थी...।'

'अकेले क्यों हो? ऐसा करो, हमारे साथ हो जाओ। अभी हम चार हैं, फिर पांच हो जाएंगे।'

'हां, बात तो यह ठीक है!' राजा विक्रमादित्य ने कहा, 'लेकिन तुम लोगों के अंदर कुछ खासियतें भी हैं?'

'खासियतें नहीं हैं तो क्या ऐसे ही चोर बन गए हैं!' पहले चोर ने घमंड से कहा, 'जानते हो, मैं बहुत बड़ा ज्योतिषी हूं। शुभ समय देखकर निकलता हूं और खूब धन लेकर लौटता हूं। अगर शुभ समय नहीं रहता तो मैं कभी चोरी करने नहीं निकलता। और यही वजह है कि आज तक मैं कभी पकड़ा नहीं गया हूं।'

'वाह! यह तो सचमुच बहुत ही बड़ा गुण है!' राजा विक्रमादित्य ने उसकी प्रशंसा करके दूसरे चोर से पूछा, 'क्यों भाई, तुम्हारे अंदर भी क्या इसी तरह की कोई खासियत है?'

दूसरे चोर ने अकड़कर कहा, 'जरूर है!'

'वह क्या, बताओ तो?'

'मैं ऐसा मंत्र जानता हूं जिससे मैं तो सबको देख लूं, पर मुझे कोई न देख पाए। कहो तो मैं राजा के आगे रखा धन उठा लाऊं! वह मुझे देख ही नहीं सकेगा तो पकड़ेगा कैसे!'

'अच्छा? यह तो और भी बड़ी खासियत है!'

'है ही।'

अब राजा विक्रमादित्य ने तीसरे चोर की ओर देखकर पूछा, 'और तुम भाई, तुम भी जरा अपनी खासियत बता दो।'

तीसरे ने कहा, 'मैं दुनिया भर के जानवरों की बोलियां बोल सकता हूं और उनकी बोलियां समझ भी सकता हूं।'

'हूं!' राजा विक्रमादित्य ने चौथे चोर से पूछा, 'तुम्हें क्या आता है, भैया?'

'मुझ में जो खासियत है, वह किसी और में हो ही नहीं सकती!' चौथे चोर ने रोब से कहा।

राजा विक्रमादित्य ने ताज्जुब से पूछा, 'जरा बताओ तो सही, आखिर तुम्हारे पास ऐसा कौन-सा जादू है?'

चौथे चोर ने अपनी बांहों की मछलियां मसलते हुए कहा, 'मुझे कोई चाहे जैसे, जिस चीज से भी मारे, मैं मर ही नहीं सकता।'

'सच?' राजा विक्रमादित्य ताज्जुब से बोल पड़ा, 'तुम चारों के चारों तो सचमुच बड़े ही गुणी आदमी हो!'

'वह तो हैं ही!' चारों चोरों ने एक साथ कहा, 'लेकिन तुम्हारे अंदर भी कोई गुण है कि नहीं?'

'है तो, भैया!' राजा विक्रमादित्य ने सिर हिलाकर कहा, 'एक गुण मेरे अंदर भी है।'

'वह क्या?'

राजा विक्रमादित्य ने हंसकर कहा, 'हम लोगों को सिपाही तो क्या अगर सेनापति भी पकड़ ले, मेरे एक इशारे पर ही सब तुरंत मुक्त हो जाएंगे।'

'वह कैसे?' चोरों ने ताज्जुब से पूछा।

राजा विक्रमादित्य ने बात बनाते हुए कहा, 'बस, ऐसे ही... मैं एक ऐसा मंत्र जानता हूं जिसे पढ़कर मैं जैसे ही इशारा करूंगा, सब छूट जाएंगे।'

'तब तो तुम हम सबसे ज्यादा गुणी हो!' एक चोर ने खुश होकर कहा, 'फिर हमें डर किस बात का! अगर पकड़ भी लिए गए तो तुम हमें छुड़ा ही लोगे। छुड़ा लोगे न?'

'हां। जरूर छुड़ा लूंगा।' राजा विक्रमादित्य ने वायदा किया।

'तब चलो, हम लोग राजा के महल में ही क्यों न चोरी करें!'

'हां।' ज्योतिषी चोर ने खुश होकर कहा, 'इस समय मुहूर्त भी बड़ा अच्छा है। हमें अपार धन मिलेगा।'

तुरंत ही सब चोर महल में चोरी करने चल पड़े।

राजा विक्रमादित्य भी उनके साथ हो लिया।

पांचों महल के पास पहुंचे। एक चोर ने आगे बढ़कर कहा, 'भाई, पहले मैं ही अंदर घुसता हूं। अगर कोई गड़बड़ी हुई तो तुरंत मंत्र पढ़ूंगा, फिर मैं तो सबको देखता रहूंगा, पर मुझे कोई नहीं देख पाएगा।'

'ठीक है।' जानवरों की बोली जानने वाले चोर ने कहा, 'हम लोग यहीं खड़े रहकर पहरा देंगे। अगर कोई आता हुआ दिखाई पड़ेगा तो मैं गीदड़ की बोली बोलूंगा। तुम सब होशियार हो जाना।'

अभी वे बातें कर ही रहे थे कि एक कुत्ता भौंक उठा।

जानवरों की बोली समझने वाला चोर कुत्ते की आवाज सुनते ही घबरा उठा। वह डरकर बोला, 'यह तो बहुत बुरा हुआ।'

'क्या हुआ?' दूसरे चोर ने पूछा।

'जानते हो, यह कुत्ता क्या कह रहा है!' जानवरों की बोली समझने वाले ने कहा, 'कुत्ता कह रहा है कि चोर चोरी करने जा रहे हैं और राजा उन्हें देख रहा है...'

उसकी बात अभी पूरी भी नहीं हो पाई थी कि एकाएक पचीसों सिपाहियों ने घेरकर उन्हें पकड़ लिया।

तब भी चोर घबराए नहीं। उन्होंने सोचा—हमारा नया साथी तो हम सबको छुड़ा ही लेगा। वह ऐसा मंत्र जानता है कि इशारा करते ही...

लेकिन यह क्या!

चारों चोरों ने जब आस-पास देखा तो देखते ही रह गए। पांचवां चोर गायब था। कहां तो वे सोच रहे थे कि पांचवां चोर मंत्र पढ़कर... लेकिन जब वह था ही नहीं तो कौन मंत्र पढ़ता और कौन इशारा करके उन्हें छुड़ाता! उनके साथ जरूर कहीं धोखा हुआ है।

असल में हुआ यह था कि महल के पास पहुंचते ही राजा ने अपने सिपाहियों को इशारा कर दिया था। और जब सिपाही चोरों को पकड़ने में लगे थे तभी वह खुद चुपचाप वहां से खिसक गया था।

दूसरे दिन दरबार लगते ही राजा विक्रमादित्य ने हुक्म दिया, 'चारों चोरों को दरबार में लाया जाए।'

चारों चोर उसके सामने हाजिर कर दिए गए।

चोरों ने जब राजा को देखा तो सन्न रह गए। वे तुरंत पहचान गए कि रात को राजा स्वयं ही चोर बनकर उनके साथ चोरी करने आया था। अब जो उन्हें काटो तो खून नहीं। वे समझ गए कि राजा अब जरूर उनके हाथ-पैर कटवाकर नगर के बाहर फेंकवा देगा।

राजा विक्रमादित्य ने चोरों को डर से कांपते देखा तो हंस पड़ा। उसने मुंह बनाकर पूछा, 'क्यों जी, तुम तो बड़ा अच्छा मुहूर्त देखकर चोरी करने निकले थे! तुम्हें तो धन मिलना चाहिए था, पकड़ कैसे लिए गए?'

ज्योतिष जानने वाले चोर ने चुपचाप सिर झुका लिया।

राजा विक्रमादित्य ने दूसरे चोर की ओर देखकर कहा, 'तुम तो जानवरों की बोली समझते हो न...'

'हां महाराज!' दूसरे चोर ने हिम्मत बांधकर कहा, 'कुत्ते ने भौंककर कहा था कि चोर चोरी करने जा रहे हैं और राजा उनको देख रहा है...'

'तब भी पकड़ लिए गए!' राजा विक्रमादित्य ने जोर से हंसकर तीसरे चोर से पूछा, 'तुम तो मंत्र पढ़कर गायब हो सकते थे न? पकड़े कैसे गए?'

तीसरा चोर सन्न खड़ा रहा।

राजा विक्रमादित्य ने चौथे चोर से कहा, 'तुम किसी भी तरह मरोगे नहीं, लेकिन जेल में तो तुम्हें सड़ना ही पड़ेगा।'

बेचारा चोर क्या जवाब देता!

राजा विक्रमादित्य ने सिर हिलाकर कहा, 'देखो, तुम सबके गुण इस समय बेकार हो गए हैं...'

'नहीं, महाराज, ऐसी बात नहीं है!' एकाएक पहले चोर ने सिर उठाकर कहा।

राजा विक्रमादित्य ने ताज्जुब से पूछा, 'क्यों? क्या अब भी तुम लोग बचने की उम्मीद रखते हो?'

चोर ने बड़ी हिम्मत से जवाब दिया, 'हां, महाराज, हम अब भी बच सकते हैं।'

'वह कैसे?'

चोर ने जवाब पहले ही सोच रखा था। वह यह तो जान ही गया था कि पांचवें चोर के भेष वाला राजा अब स्वयं ही सामने बैठा है। इसी ने तो कहा था कि मेरे एक इशारे पर सब छूट सकते हैं। सो सही ही कहा था। भला राजा का हुक्म कौन टाल सकता है!

चोर ने सोचा—राजा सजा तो देगा ही, फिर डर किस बात का! जहां तक हो सके अपनी ओर से तो बचने की पूरी कोशिश करनी चाहिए। उसने चतुराई से कहा, 'महाराज, हमारे साथ एक पांचवां साथी भी था। वह आपकी पकड़ में नहीं आया है!'

'तो क्या हुआ? वह भी पकड़ा जाएगा।' राजा विक्रमादित्य ने मुस्कराकर कहा।

चोर ने कहा, 'महाराज, वह ऐसा मंत्र जानता है कि उसके इशारा करते ही हम सब छूट जाएंगे।'

'हा-हा-हा-हा...' राजा विक्रमादित्य ने ठहाका लगाकर पूछा, 'तुम क्या सोचते हो कि पांचवां चोर अब तुम्हें छुड़ाने आएगा?'

'जरूर आएगा, महाराज! हम पांचों साथी बने थे।' चोर ने बड़ी चतुराई से कहा, 'उसने हमें वचन दिया था। और जो आदमी अपने वचन को पूरा नहीं करता, वह धोखेबाज कहलाता है। मुझे पूरी उम्मीद है कि हमारा पांचवां साथी हमारे साथ धोखेबाजी नहीं करेगा। वह जरूर हमें छुड़ाएगा।'

राजा विक्रमादित्य चोर की बात पर खुश हो गया। वह तो चोरों की बुद्धि की परीक्षा ले रहा था। उसने तुरंत इशारा किया और चारों चोरों को छुड़वा दिया। कहने लगा, 'तुम्हारा पांचवां साथी धोखेबाज नहीं है। उसने अपना वचन पूरा किया। अब तुम सब पहले की तरह ही आजाद हो!'

चारों चोर राजा के आगे झुक गए और क्षमा मांगते हुए बोले, 'हम भी वचन देते हैं, महाराज, अब हम आगे कभी चोरी नहीं करेंगे।'

राजा ने उन्हें उठाते हुए कहा, 'असल में गलती मेरी ही है। अब मैं ऐसा कुछ करूंगा जिससे नगर भर में आगे कोई भी बेकार न रहने पाएगा।'

चोरों ने प्रसन्न होकर कहा, 'फिर तो कोई चोरी भी नहीं करेगा, महाराज!'

'तुम चारों बहुत ही गुणी और बुद्धिमान हो।' राजा विक्रमादित्य ने सबको पुरस्कार देते हुए कहा, 'अब तुम लोग भी गरीब नहीं रहने पाओगे।'

पुरस्कार लेकर पहले चोर ने खुश होकर कहा, 'देख लीजिए, महाराज! मैं सचमुच शुभ मुहूर्त देखकर निकला था या नहीं? आखिर हमें इतना धन मिल ही गया न!'

'हां, तुम सचमुच ज्योतिषी हो! मैं तुम्हें आज से राजज्योतिषी बनाता हूं।' फिर राजा विक्रमादित्य ने दूसरे चोर की ओर देखकर कहा, 'तुम छिपकर सारे नगर में घूमा करो। तुम्हें कोई भी देख नहीं पाएगा, पर तुम सब को देखना और उनका दुख-सुख मुझे बताया करना!'

इसके बाद राजा ने तीसरे चोर को अपना सेनापति बनाते हुए कहा, 'तुम किसी के मारे से नहीं मरोगे न! तुम सचमुच बहुत वीर हो। वीर ही हमारे राज्य का सेनापति हो सकता है।'

'और मेरे लिए क्या आज्ञा है, महाराज?' चौथे चोर ने पूछा।

'तुम तो जानवरों की बोली जानते हो! तुम मेरे साथ ही रहा करो और जानवरों की बोली समझकर मुझे उनके बारे में बताया करो।'

इसके बाद राजा विक्रमादित्य ने ऐसे-ऐसे काम किए कि नगर भर में किसी को किसी प्रकार का कभी दुख नहीं हुआ। कमाने-खाने की कमी ही न रही तो दुख क्योंकर होता! फिर न तो कभी नगर में कोई चोर हुआ, न किसी ने कोई बुरा काम ही किया।

दिन-रात प्रजा राजा विक्रमादित्य का गुणगान किया करती—राजा हो तो ऐसा हो। ❖

जैन भारती पाठक पहेली

नियम

1. यह पहेली जैन भारती के मई, 2001 अंक में प्रकाशित सामग्री पर आधारित है, अतः इस पहेली के उत्तर जैन भारती के मई अंक की सामग्री पर आधारित होने चाहिए। 2. प्रकाशित पहेली के हल/उत्तर दिनांक 10 सितम्बर, 2001 तक जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर पहुंच जाने चाहिए। प्रत्येक प्रविष्टि पाठक पहेली प्रारूप में ही भरी होनी चाहिए। 3. अधूरे भरे हुए या देर से पहुंचे हलों पर विचार नहीं किया जाएगा। कटी-फटी प्रविष्टियां स्वीकार नहीं की जाएंगी। 4. इस पहेली के सही हल और विजेताओं के नाम अक्टूबर, 2001 के अंक में प्रकाशित किए जाएंगे। 5. सर्वशुद्ध हलों में से पुरस्कार का चयन लाटरी-पद्धति द्वारा होगा। प्रतियोगिता में पुरस्कार विजेताओं के बारे में संपादकीय निर्णय अंतिम होगा। इस बाबत कोई पत्र-व्यवहार नहीं किया जाएगा। चयनित प्रथम प्रतियोगी को 151 रुपये का साहित्य अथवा नकद राशि पुरस्कार स्वरूप दी जाएगी, जबकि सर्वशुद्ध हल वाले प्रथम दस प्रतियोगियों को जैन भारती एक साल तक सम्मानार्थ भेजी जाएगी। 6. एक लिफाफे में एक से अधिक प्रविष्टियां भी भेजी जा सकती हैं, लेकिन हर एक प्रविष्टि के साथ कूपन संलग्न करना अनिवार्य है। जिरोक्स (छायाप्रति) या प्रतिलिपि स्वीकार नहीं की जाएगी। 7. लिफाफे पर एक कोने में 'जैन भारती पाठक पहेली' अवश्य लिखा होना चाहिए।

1			2		3			4	
			5						
6	7					8			
			9		10				
11		12					13		14
						15			
16	17		18		19				
20					21			22	
	23	24						25	
26				27		28			

प्रविष्टि कूपन

जैन भारती पाठक पहेली-0018

नाम प्रतियोगी.......................................उम्र............

पूरा पता...

....

....

बाएं से दाएं

1. एक-एक......पर चित्त को ले जाएं [4]
3. ......परिणामेण य, अभिगमेण [2]
4. इससे अधिक की......सरकार से फिर [2]
5. जब......से हमारा साक्षात्कार होगा [3]
6. मन में फांस-सी......उठी [3]
8. इस......सृष्टि का शासन चलाने के लिए [4]
9. उसका......यह होता है कि धर्म से [3]
11. योग से चक्रवर्ती,......वासुदेव [4]
15. जब......अतृप्ति होती है और [4]
16. मूल प्रेरणा पर उसका......कम हो जाता है [2]
18. पैदा हुई......की प्रतिक्रिया हिंसात्मक [3]
20. वह मस्तिष्क में छाई......जाएगी [2]
21. चाहे उनका किसी धार्मिक......या धर्म की [4]
23. ......आवत-जावत ते [3]
25. मात्र संयम यात्रा के......आहार कर [2]
26. ण णिगूहिज्जा......हाविज्जा [1]
28. बस, सारा पदार्थ......समाप्त [3]

ऊपर से नीचे

1. राजनीति में......सीमा तक अहिंसा का [3]
2. यह सब काम किसी के......का नहीं [2]
3. उदाहरण के लिए......और गुणमंजरी [2]
4. ......भावपूर्वक, संकल्पपूर्वक ही होनी चाहिए [4]
7. भावना की सब से......और प्रभावी अभिव्यक्ति [3]
9. आचार्य भिक्षु ने......पदार्थ में कहा है [2]
10. ते करणी निरवद...... [2]
11. जैसे......वालों में किसी को लेकर पैदा हुआ [4]
12. भुरभुरा जाती सारी...... [2]
13. करुणा,......आदि सभी इसी कोटि के अंतर्गत [2]
14. मारै......नै पुचकारै [3]
17. एक दुर्बल......की तरह उठकर विलीन हो गया [3]
18. यह......भावना है [3]
19. तो बेचारी औरत की......आ जाती है [3]
22. जब अल्पसंख्यक,......या अन्य पिछड़े [3]
24. वचन-प्रहारों को......नहीं सकते [2]
27. ते आरिया......संता अणारियाओ [1]

जैन भारती पाठक पहेली - 0016

सर्वशुद्ध हल व विजेताओं के नाम

1 स्मा	र्थ	2 क		3 आ	4 स्था		5 ग	ठ	6 न
ध्वी		ठि		7 सु	न		म		वी
		8 न	9 ग	री		10 अ	न	11 श	न
12 म	ल		ति		13 सू			रा	
न		14 स्व			क्त		15 सु	ब	16 ह
	17 न		18 सा	स		19 र	ख		वा
20 अ	व	स	र			चा		21 टी	
प			ग		22 सि		23 वि	का	24 स
वा			र्भि		25 स	मू	चा		म
26 द	शा		27 त	नि	क		28 र	क्ष	ण

प्रथम चयनित विजेता—कान्तादेवी आंचलिया, बोलपुर

अन्य दस चयनित विजेता

1. नवीन नाहटा, भादरा
2. प्रेम सेठिया, नई दिल्ली
3. तारामणि बरड़िया, जयसिंहपुर
4. सुन्दरदेवी दूगड़, कारखाना (आ.प्र.)
5. सुरेशचन्द्र कोठारी, झाबुआ
6. सारिका नाहर, विशाखापटनम
7. गुलाबदेवी सुखाणी, फारबिसगंज
8. कमलकुमार बोथरा, कूचबिहार
9. विमला गादिया, चेंगलपेठ
10. सूरजदेवी बैद, लाडनूं

जैन भारती पाठक पहेली के सभी पुरस्कार (प्रारंभ से ही) बंशीलाल श्रीमाल चेरीटेबल ट्रस्ट तिरपाल उद्योग, फैंसी बाजार, गुवाहाटी (असम) के सौजन्य से।

With best compliments from :

AMIT®
A CHOPRA PRODUCT
Mfg. Art Silk Sarees & Dress Material

AMIT - SYNTHETICS

Shop : W-3207, Surat Textile Market
Office : 402, Anand Market, Ring Road
SURAT 395002
Phone : 622076, 625680, 622027 Fax : 0261-636651

Pemchand Chopra Charitable Trust
W-3207, Surat Textile Market
Ring Road, SURAT

●

Jhamkudevi Chopra Charitable Trust
11-A,B, Sai Ashish Society
Udhaua Magdalla Road, SURAT

जैन भारती, अगस्त, 2001 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर/11/48/2000

With best compliments from :

SUKHRAJ, BABULAL, TRIBHUVAN KUMAR
ASHOK KUMAR, RAMESH KUMAR SINGHAVI
ASADA-WALA (RAJ.)

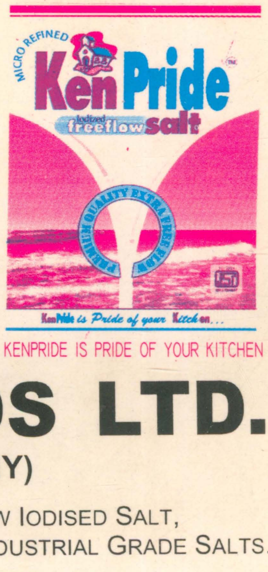

KENPRIDE IS PRIDE OF YOUR KITCHEN

TERAPANTH FOODS LTD.

(A FRIENDS GROUP OF COMPANY)

MANUFACTURERS AND EXPORTERS OF REFINED FREEFLOW IODISED SALT,
PURE GRADE INDUSTRIAL SALT AND ALL TYPES OF EDIBLE AND INDUSTRIAL GRADE SALTS.

REGD. OFFICE :
MAITRI BHAVAN, PLOT NO. 18, SECTOR-8
GANDHIDHAM 370201 GUJARAT (INDIA)

Tel. : 091-2836-32227, 31588 Fax : 091-2836-33924, 56687
e-mail : friends@ad1.vsnl.net.in Grams : Terapanthi

भँवरलाल सिंघी, महामंत्री, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए
जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।